

द्वितीय अध्याय

आदिवासी जीवन केन्द्रित हिन्दी उपन्यास: भूमंडलीकरण और विकास की
अवधारणा

- i) विकास की अवधारणा
- ii) विकास से संबंधित योजनाएँ: आर्थिक एवं शैक्षिक
- iii) आदिवासी जीवन के संदर्भ में विकास
- iv) विकास की व्यावहारिक विसंगतियाँ

i) विकास की अवधारणा

विकास के संबंध में विभिन्न विद्वानों में मतभेद की स्थिति उत्पन्न हो गई है यानी कि विकास को एक निश्चित परिभाषा में गढ़ना कठिन है। सामान्यतः विकास का अर्थ हर तरह की भौतिक सुख-सुविधाओं से माना जाता है और सभी ने इसे सही मायने में विकास कहा है। विकास का अर्थ आर्थिक स्थिति में सुधार से है, शहरीकरण, औद्योगीकरण, विनिवेशीकरण की स्थापना से है। विकास शब्द की अवधारणा अत्यंत व्यापक है। अंग्रेजी में विकास के लिए 'development' शब्द का प्रयोग किया गया। ऑक्सफोर्ड अंग्रेजी-अंग्रेजी-हिन्दी शब्दकोश के अनुसार 'development' शब्द का अर्थ है - अधिक विस्तृत, सुदृढ़, बेहतर आदि होने या बनाने की प्रक्रिया। कहने का तात्पर्य है कि किसी वस्तु को अधिक उन्नत और प्रगत बनाने की प्रक्रिया को विकास कहते हैं।¹ अर्थात् जीवन को उन्नत तथा प्रगति के शिखर पर ले जाने की प्रक्रिया विकास कहलाता है। प्रत्येक समाज एक बेहतर जीवन की इच्छा रखता है। लेकिन जब वंचितों की स्थिति पर दृष्टिपात करते हैं तो विकास का अर्थ ही परिवर्तित हो जाता है।

इस एवज पर विकास की दो विरोधी अवधारणा सामने आई है - एक की दृष्टि में जिसे विकास कहा जाता है, दूसरे की दृष्टि में वह विस्थापन का दंश है। स्वभावतः दोनों की मूलभूत आवश्यकताएँ एक-दूसरे से पृथक होंगी एवं विकास भी तदनुसार होगा। जिस वर्ग को विकास से लाभ हुआ है उनके लिए विकास का अर्थ है समस्त भौतिक सुख-सुविधाओं से सम्पन्न जीवन जैसे शिक्षा एवं रोजगार के अवसर, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा व्यवस्था, सुरक्षा आदि। वहीं दूसरा वर्ग ऐसा है जिन्हें विकास से केवल हानि ही प्राप्त हुई है। विकास के नकारात्मक परिणाम - विस्थापन, संसाधनों की लूट, पारंपरिक संस्था पर कुठाराघात, को भुगतना पड़ा। औपनिवेशिकरण के दौरान पूंजीवादी अर्थव्यवस्था व्याप्त थी। प्राकृतिक संसाधन क्षेत्रों में पूंजी का प्रवेश कम तथा विभिन्न तकनीकों, बिजली, रेलवे का प्रवेश अधिक मात्रा में हुआ ताकि संसाधनों के दोहन में सहायता प्राप्त हो। इन्हीं संसाधनों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले

जाकर पूंजी में बदल दिया गया। वर्तमान संदर्भ में विकास की अवधारणा ने भ्रम की स्थिति उत्पन्न कर दी है। लेखक विनोद कुमार के शब्दों में - “विकास की शब्दावली विवादास्पद, भ्रामक या मायावी शब्दावली की शकल ले चुकी है। विकास के नाम पर एक बड़ी आबादी को मोहित, चमत्कृत या दिगभ्रमित कर बड़ी मेहनतकश आबादी को संसाधनों, अवसरों और अधिकारों से बेदखल करने और एक छोटी दौलतमंद आबादी के हाथ में ज्यादा-से-ज्यादा संसाधन समेट देने का विनाशकारी सिलसिला बड़ी बेशर्मी और बेरहमी से जारी है।”² संसाधनों के अबाध दोहन एवं लूट की यह प्रक्रिया औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की मुख्य उपज थी। लूट की यह नीति केवल भारत में ही नहीं, बल्कि विश्व के उन प्रत्येक क्षेत्रों में अपनाई गई जहाँ प्रकृति प्रदत्त संसाधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। अर्थात् एक स्थान को लूटकर, उसे नष्ट कर दूसरे स्थान की प्रगति एवं विकास करना पूंजीवादी व्यवस्था की मुख्य प्रवृत्ति है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि दोहन की यह नीति आदिवासी बहुल क्षेत्रों में ही सक्रिय रही है। चाहे अफ्रीका, अमेरिका, आस्ट्रेलिया हो या भारत, जिन जगहों में आदिवासी बसे हुए थे, उन क्षेत्रों का अबाध दोहन किया गया।

जैसे-जैसे युग बदल रहा है परिभाषाएँ बदल रही हैं, चरित्र प्रभावित हो रहा है और चरित्र के प्रभावित होने के कारण उसके परिवर्तित स्वरूप से आमना-सामना हो रहा है। पूंजीवाद ने अपने चेहरे पर लगाए मुखौटे के कारण सामान्य जन को भ्रमित कर रखा है। आधुनिक पूंजीवाद का स्वरूप प्राचीन समय के पूंजीवाद से भिन्न था। पहले कोई पूंजीपति किसी वस्तु की उपज करता तत्पश्चात् विक्रय कर लाभ अर्जित करता था। अर्जित किए गए लाभ से पुनः उपज कर अधिक से अधिक पूंजी का उत्पादन करना मुख्य उद्देश्य था। पूंजी उत्पादन की इस पूरी प्रक्रिया में सर्वोच्च पूंजीपति वर्ग में सम्मिलित होने के लिए उसे राज्य अथवा राष्ट्र का पूर्ण सहयोग प्राप्त होता था। आज इसी सहयोग के रूप में व्यापार करने की छूट पर सरकारी मुहर लगाना ही आवश्यक रह गया है। परिणामस्वरूप विपुल मात्रा में बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उभरीं जिन्होंने परंपरागत अर्थव्यवस्था के मानक को बदल दिया। उदाहरण

स्वरूप - “1972 में दुनिया के तेल निर्यातक देशों ने ओपेक संगठन बनाकर तेल की कीमतों में भारी बढ़ोतरी लादी जिससे तेल कंपनियों को भारी मुनाफा हुआ। ये तेल कंपनियाँ बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियों में गिनी जाती हैं। इसका असर यह हुआ कि दुनिया भर में बहुत भारी मात्रा में पूँजी का प्रवाह हुआ। इसके बाद अमेरिकी अर्थव्यवस्था को स्वर्ण मानक से मुक्त कर दिया गया, जिससे पूँजी संचय में और इजाफा हुआ। पूँजी की इस भारी मात्रा को अब पूँजी नहीं ‘वित’ कहा जाता है।”³ पूँजी के इस वृहद रूप को उचित स्थान पर इन्वेस्ट करने की आवश्यकता थी। परिणामस्वरूप शेयर बाजार का चलन जोरों से चल पड़ा। बड़ी-बड़ी कंपनियाँ अपने शेयर निकालती हैं और लोगों को भारी मात्रा में पूँजी निवेश के लिए प्रोत्साहित करती हैं ताकि उत्पादन की मात्रा में इजाफा हो और सभी लोगों तक इसकी पहुँच बन सके। अब पूँजी उद्योग के रूप में परिवर्तित हो चुकी है। यह वर्तमान अर्थव्यवस्था की प्रणाली है जिसके केंद्र में पूँजी है। इसका जनहित से कोई सरोकार नहीं है। इसमें जितना निर्माण की क्षमता है, उससे कई अधिक नष्ट करने की क्षमता है। इसे विकास के संदर्भ में देखा जा सकता है।

वैसे विकास का उद्देश्य मानव जीवन का सर्वांगीण विकास करना और उनकी आवश्यकताओं को निश्चित करना तथा उसे ध्यान में रखना है। यह सवाल लगभग अर्थ से जुड़ा हुआ है, सामान्य जीवन से जुड़ा हुआ है। समाज के एक बड़े भू-भाग में आदिवासी समुदाय निवास करती है। उनकी संस्कृति ही उनकी पहचान है, धरोहर है। विकास एक गतिशील प्रक्रिया है। इसके कारण ही जीवन सुचारु रूप से चलता है। पर इसके बावजूद हमारे देश की एक बड़ी आबादी विकास की इस प्रक्रिया से वंचित है। उन्हें जो साधन प्रदान किए गए हैं, उससे उनका पर्याप्त विकास होना असंभव था। रोजगार के विकल्प की खोज में वे गाँव छोड़ शहर में बस रहे थे और एक भिन्न संस्कृति की ओर प्रवेश कर रहे थे। धीरे-धीरे गाँव को शहर का रूप दिया जाने लगा। फलस्वरूप कई शहरों का उदय हुआ। लेकिन ये शहर आर्थिक रूप से सम्पन्न होने के बाद ही विकसित हुए। लेखक विनोद कुमार शहरी विकास पर अपनी बात रखते हुए कहते हैं - “आधुनिक भारत में कल-कारखानों के समय बोकारो, भिलाई, दुर्गापुर और राँची जैसे

औद्योगिक शहर अस्तित्व में आये। हालाँकि औद्योगिक शहर के रूप में विकसित होने के पहले भी उन इलाकों में कुछ आर्थिक गतिविधियाँ चलती थीं। मसलन, औद्योगिक शहर बोकारो के अस्तित्व में आने से पहले वहाँ चास नाम का शहर आबाद था, जहाँ संभवतः चासी यानी बड़े किसान रहते थे और यह आदिवासी इलाकों में पैदा होने वाले लाह के व्यापार का केंद्र था। इसी तरह एचईसी के अस्तित्व में आने के पहले भी ईसाई मिशनरियों की सक्रियता, सघनता और बिहार की उप-राजधानी होने की वजह से राँची एक शहर के रूप में विकसित हो रहा था। लेकिन उन्हें गति मिली आर्थिक आधार मिलने के बाद।⁴ झारखंड खनिज-पदार्थ से सम्पन्न क्षेत्र है। यहाँ के निवासियों में यह उम्मीद जाग्रत की गई कि उनका भविष्य कल-कारखानों की स्थापना पर ही निर्भर है। इस बात से लोग परिचित हैं कि स्वतन्त्रता के पश्चात् बड़े-बड़े सार्वजनिक कार्य झारखंड में ही होते हैं। कल-कारखानों की स्थापना से राज्य में छोटे-छोटे सम्पन्न शहर विकसित हुए। वहाँ तरह-तरह की कॉलोनियाँ, सड़कें, अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों का निर्माण हुआ। एक तरह से देखा जाए तो झारखंड राज्य फल-फूल तो रहा है, लेकिन वहाँ ऐसा भी जनसमूह निवास करता है जिनके लिए विकास लाभप्रद नहीं रहा। वास्तविक तौर पर इनके लिए विकास नाम मात्र का था। मजदूरों को उनकी योग्यता के अनुसार कार्य न देकर कोई भी कार्य दे दिया जाता था। उनकी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया और आज भी यही स्थिति है। कल-कारखाने की स्थापना से पहले आदिवासी श्रम की जिंदगी व्यतीत करते थे। परिश्रम करने में इनका कोई सानी नहीं है। उन्होंने धन-संचय कदापि नहीं किया। उनकी अपनी पुरखा जमीन थी जिस पर उनकी भावी पीढ़ी खेती बारी करके अपना जीवन व्यतीत कर सकती थी। इस औद्योगीकरण ने उनसे उनकी जमीन ही नहीं छीनी, बल्कि उनसे उनका अधिकार, सर्वस्व छीन लिया और उन्हें बदले में विस्थापन मिला। वे ऐसे स्थान पर बसने के लिए विवश हुए जहाँ कल-कारखाना से निकलने वाले धुओं ने पूरे इलाके को प्रदूषित कर दिया। अतः हड़प ली गई उनकी जमीन पर जितने भी कारखाने खुले, वह सब बंद होने की स्थिति तक पहुँच गया है, कुछ तो बंद भी हो गया है। जिन जमीनों को कारखाना स्थापित करने के

उद्देश्य से लिया गया था, उन जमीनों का बहुत-सा भाग उपयोग में नहीं लाया गया और निजी संस्थानों को वितरित कर अधिक मुनाफा अर्जित किया गया। उन जमीनों पर विभिन्न धार्मिक संस्थाएं स्थापित हुईं। यह विकास आदिवासियों का न होकर शहर के लोगों के लिए था। उनकी जमीन पर कारखाना बनाने का मुख्य उद्देश्य स्थानीय लोगों को नौकरी उपलब्ध कराना था, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। नौकरी न देने का मुख्य कारण तकनीकी ज्ञान का न होना बताया गया था। इसलिए स्थानीय लोगों की बहाली कंपनियों में नहीं हुई। आधुनिक कंपनियों के लिए भी यह सबसे बड़ी चुनौती बनकर सामने आई। इस संबंध में विनोद कुमार का कथन द्रष्टव्य है - “सार्वजनिक प्रतिष्ठानों में बहिरागतों को ही सही, नौकरी तो मिली। लेकिन निजी प्रतिष्ठानों में रोजगार की संभावनाएँ अत्यंत सीमित हैं। उदाहरण के लिए, चार मिली टन क्षमता के बोकारो इस्पात कारखाने में पैंतालीस हजार लोगों को प्रत्यक्ष रोजगार मिला। लेकिन इतनी ही क्षमता का इस्पात संयंत्र अगर मितल लगाते हैं तो अधिकतम पाँच हजार लोगों को रोजगार मिलेगा। वजह सिर्फ नई तकनीक नहीं, मजदूरों के बारे में बदला दृष्टिकोण भी है। अब अधिकतम काम ठेका श्रमिकों से कराने की प्रवृत्ति बढ़ी है।”⁵

भारत कृषि प्रधान देश रहा है। यहाँ के निवासियों के जीविकोपार्जन का आधार कृषि है। कृषि संसाधन ही उन्हें आर्थिक रूप से मजबूत बनाता है। इसी आर्थिक आधार से उन्हें अलग करने की कोशिश की गई है। उनके आर्थिक आधार को मजबूत बनाने के लिए विकास आवश्यक है क्योंकि ये लोग पूरी तरह से कृषि पर निर्भर हैं। दूसरी तरफ कारखाने की स्थापना से प्रकृति को सबसे अधिक नुकसान हो रहा है। आदिवासी प्रकृति के संरक्षक हैं। प्रकृति के साथ उनका गहरा संबंध रहा है। प्रकृति के बिना इनके अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। इसके पूर्व चर्चा की जा चुकी है कि आदिवासियों को हर सुविधाओं से वंचित रखा गया। बिजली की सुविधा गाँव तक नहीं पहुँचाई गई, रासायनिक खादों का अभाव पाया गया। वस्तुतः “ऐसा विकास किस काम का, जो विपन्नता बढ़ाये, गरीबी की फसल उगाये।”⁶ शुरुआत से ही अंग्रेजों ने ‘फूट डालो और राज करो’ की नीति को अपनाया। सभ्य समाज के अनुसार आदिवासियों का

विकास संभव नहीं है; वे विकास के योग्य हैं ही नहीं; वे विकास के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा हैं। इसलिए जो भी विकास किया गया वह उनके हितों को ध्यान में रखकर नहीं किया गया। आदिवासियों के प्रति मुख्यधारा समाज की यही मानसिकता रही है। आदिवासियों का गाँव-घर शहर जैसा बन गया है। उनके रहन-सहन में परिवर्तन आ गया। उनकी संस्कृति उनसे दूर होती गई और प्रकृति से उनका संबंध कट-सा गया। लेखक विनोद कुमार ने अपने उपन्यास 'रेड जोन' में बदलते संदर्भ को बखूबी दिखाया है, "गाँव लगभग तीन दिशाओं से आवासीय कॉलोनियों के बीच घिरकर शहर का हिस्सा बन गया था। इनकी जीवन शैली भी बदल गयी थी। गाँव में कुछ लोग कारखाना में काम करते थे और अधिकतर औरत-मर्द दिहाड़ी मजदूरी या कचरा चुनने का काम करते थे। भौतिक दृष्टि से वे शायद गाँवों में रहने वाले संथालों से बेहतर स्थिति में थे, लेकिन प्रकृति से उनका वह नाता नहीं रह गया था जो पहाड़ों-जंगलों में बसे आदिवासी गाँवों के लोगों का होता है। इसका असर उनकी जीवन शैली पर पड़ा था।"⁷ अर्थात् आधुनिकता के प्रवेश करने से वे अपनी परंपरागत संस्कृति से कटते चले गए। गाँव में टी.वी., एंटीना, मोटरसाइकिल होने के कारण यह भ्रम हो जाता है कि उनकी स्थिति ठीक है और वे विकसित हो रहे हैं। जबकि सच्चाई यह नहीं है। झारखंड को ही लें, उपनिवेशवादी साम्राज्य ने पूरे झारखंड को अपनी चपेट में ले लिया है। वन सुरक्षा की बात तो की जाती है, लेकिन वन सुरक्षा के स्थान पर वन का सफाया कर भूमि को बंजर बनाने का प्रयत्न किया जाता है। चंद्रपुरा का थर्मल प्लांट, झींकपानी (सिंहभूम) की सीमेंट फैक्टरी ने झारखंड के वातावरण को बुरी तरह से प्रभावित किया है, यहाँ तक कि दामोदर नदी का जल प्रदूषित हो गया है। डॉ. वीर भारत तलवार का कहना है, "उपनिवेशवाद एक समाज द्वारा दूसरे समाज के, एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र के शोषण की व्यवस्था है जिसमें शोषित समाज का विकास नहीं होता। झारखंड क्षेत्र की प्रगति नहीं हुई है, यह प्रगति उस क्षेत्र में सदियों से निवास कर रही स्थानीय जनता की प्रगति नहीं है बल्कि उनकी प्रगति है जो बाहर से यहाँ आकर बसते हैं, उद्योग और व्यवसाय चलाते हैं, ठेकेदारी और सूदखोरी करते हैं, यहाँ के उद्योगों में नौकरियाँ हड़पते हैं

अपनी कॉलोनियाँ बनाकर रहते हैं...झारखंड भारत के अंदर एक उपनिवेश है। झारखंड के आदिवासियों का शोषण अपने चरित्र में जातीय (राष्ट्रीय) शोषण है।”⁸

झारखंड विविधताओं से परिपूर्ण राज्य है। यहाँ आदिवासी समाज के विभिन्न समुदाय निवास करते हैं जिनकी अपनी विशेषताएँ हैं। इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए योजनाएँ लागू की जाए तभी विकास सार्थक सिद्ध होगा। झारखंड में खनिज संसाधनों का प्राचुर्य है और यही खनिज संसाधन वहाँ के निवासियों की परेशानी का कारण बनी हुई है। विभिन्न परियोजनाएँ जैसे बाँध परियोजना, खनन परियोजना, फील्ड फायरिंग रेंज आदि आदिवासियों के विस्थापन के तर्ज पर बनी है और विकास के नाम पर उनका सामाजिक-सांस्कृतिक विनाश ही हुआ। विकास सतत चलने वाली प्रक्रिया है जिसका कभी अंत नहीं होता है। विकास में परिवर्तन की व्यापक गुंजाइश होती है और नीति-नियम भी परिवर्तित होते हैं। “विकास शब्द को पारिभाषित करना अत्यंत कठिन है। विकास एक सतत् चलती रहने वाली प्रक्रिया है। जितनी गहराई से सोचेंगे उतनी ही नई समस्याएँ दिखाई देंगी। विकास में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक बदलाव व संरचनात्मक बदलाव समाहित है।”⁹ विकासजनित योजनाओं का निर्माण जिन बड़े समुदायों के नाम पर होता है, वे ही गरीबी, कुपोषण तंगहाली के शिकार बने हुए हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पूंजीवाद ने जिस तीव्र गति से मानव जीवन में प्रवेश किया है कि उसने विकास के मायने को ही पलट कर रख दिया। जिस देश ने औद्योगीकरण को सहर्ष अपनाया, वह विकास के शीर्ष पायदान में रखा गया और शेष अन्य देश पिछड़ा एवं अविकसित माना गया। इस आधार पर औद्योगीकरण ही विकास का वास्तविक स्वरूप है और हर व्यक्ति अपने बल और प्रतिभा से प्रगति के शिखर पर पहुँच सकता है। इस प्रकार अनुचित मार्गों के सहयोग से व्यक्ति, व्यक्ति का दमन कर आगे बढ़ता है। यहाँ सामूहिकता मायने नहीं रखती है, बल्कि वैयक्तिकता की होड़ सर्वप्रमुख है। अमेरिका इसका सबसे बड़ा उदाहरण है, इसलिए वह विकसित देशों में शीर्षस्थ माना जाता है। “वस्तुओं के इस योजना में पश्चिमी देश भारत को “अविकसित” मानते हैं और भारत अपने आंतरिक उपनिवेश को ‘अविकसित’ और झारखंड

के आदिवासियों को विकास की सीढ़ी में सबसे निचले पायदान पर मानता है। इसलिए उनका विकास किया जाना चाहिए! और उनका विकास तभी हो सकता है जब वे शासक वर्ग के विकास के अभियान में शामिल होंगे।”¹⁰ लेकिन आर्थिक विकास की योजनाओं की तीव्र गति का आकलन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि इस विकास अभियान में गरीब जनता को सुविधापरस्त व्यक्तियों द्वारा दरकिनार कर दिया गया है। झारखंड राज्य को ही लें, झारखंड भारत में “गरीब लोगों से भरे एक अमीर राज्य”¹¹ के रूप में अंकित है। छोटानागपुर में तीव्रता से बड़ी संख्या में नगरों का उदय हो रहा है। एक तरफ मन को लुभावनी और आकर्षित करता शहरी जीवन है जो समस्त भौतिक सुख-सुविधा से सम्पन्न है तो दूसरी तरफ आदिवासी जीवन है जो समस्त अभावों में जीने के लिए अभिशप्त है।

कई पन बिजली परियोजनाएँ लागू की गईं जिससे बिजली का उत्पादन किया गया, किन्तु आज भी कई ऐसे गाँव हैं जो बिजली की सुविधाओं से वंचित हैं। आश्चर्य है कि जिन्होंने अपनी जमीन विद्युत उत्पादन के लिए दिया, वे ही अंधेरे में अपना जीवन गुजर-बसर कर रहे हैं। दूसरी बात यह है कि जो योजनाएँ शुरू की जाती हैं वह कुछ दिनों के पश्चात् धनाभाव में बंद कर दिया जाता है। एक बड़ी धनराशि योजना कार्य के लिए लागत के रूप में लगाई जाती है वह खत्म हो जाती है। जिस उद्देश्य के लिए जमीनें अधिगृहीत की गईं, उनमें आधे से अधिक रिक्त पड़ी रही तथा उसका उपयोग अन्य स्थानों पर किया गया। विकास के नाम पर जो कार्य शुरू किया गया था, वहाँ बड़े-बड़े गड्डे मुँह बाए खड़ी दिखती हैं। हेरॉल्ड एस तोपनो ने ऐसी कई योजनाओं का उदाहरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है- “चक्रधरपुर के सोनुआ प्रखंड में वाटरवेज योजना चलायी गई है। इस योजना पर आठ करोड़ नब्बे लाख रुपये की लागत का अनुमान था। योजना 1982 में ही स्वीकृत हुई थी मगर काम शुरू किया गया मार्च 1985 में। यह काम कुछ दिनों तक चला, फिर पैसे के अभाव में बंद हो गया। इस योजना पर दो ठेकेदारों के अलावा बिहार निर्माण निगम भी काम कर रहा था। पहले तो तीन वर्षों तक काम ही शुरू नहीं हुआ, और जो भी काम हुआ वह प्राइवेट ठेकेदारों की देखरेख में। आगे

चलकर पैसे के अभाव में यह भी बंद हो गया और सरकार द्वारा घोषित अठारह हजार एकड़ भूमि की सिंचाई की योजना अधर में लटक गयी।”¹² सरकार की तरफ से किसानों को बैंक से ऋण लेने की सुविधा प्राप्त है ताकि किसानों को राहत मिले और गरीबी उन्मूलन किया जा सके। लेकिन गरीबी उनकी साथी बनी रही। यहाँ भी भ्रष्ट लोगों का ही बोलबाला है। वे गाँव में ग्रामीणों के नाम पर बैंक से ऋण ले लेते हैं और सारे पैसे स्वयं हड़प कर चंपत हो जाते हैं। मुसीबत उन लोगों पर आती है जिनके नाम पर ऋण लिया गया था। बैंक अपना ऋण वसूलने उन्हीं लोगों के पास जाती है जिन्होंने ऋण ली ही नहीं। लेकिन सरकार केवल लिखित दस्तावेज पर ही विश्वास करती है जिसमें उन देनदारों के ठप्पे प्रमाण स्वरूप मौजूद हैं। ‘समर शेष है’ उपन्यास में इस तथ्य को बड़ी बेबाकी से उजागर किया है जिसमें सुदर्शन भगत नामक व्यक्ति ने ऐसा ही घोटाला किया था। “तीन-चार वर्ष पहले उसने आसपास के गाँव में घूमकर कुआँ बनाने के लिए बैंक से कर्ज मिलने की बात कही थी। कुछ लोगों से एक आवेदन पर ठप्पा भी लिया था। दलपति का कहना है कि हो-न-हो उसने बैंक से सारा पैसा खुद उठा लिया हो और अब मुसीबत उन पर आ गई है जिन्होंने ठप्पा दिया था।”¹³ विकास के नाम पर करोड़ों रुपये आवंटित किया जाता है, लेकिन यह बड़ी धनराशि आदिवासियों तक पहुँचते-पहुँचते बीच में ही हड़प ली जाती है।

उपरोक्त तथ्य से स्पष्ट है कि औद्योगीकरण की उन्नति को ही विकास के रूप में स्वीकार किया गया है जिसका मुख्य उद्देश्य सामान्य जन के जीवन स्तर को उन्नत कर गरीबी से निजात पाना है। इसके लिए विपुल मात्रा में उद्योगों की स्थापना हुई और प्राकृतिक संसाधनों का दोहन हुआ। फलस्वरूप गाँव शहर में परिवर्तित हुए और इस प्रकार शहरों का उदय हुआ। शहर केवल जीविका और उपभोग का मुख्य स्थान बन गया है जहाँ बड़ी संख्या में लोगों का हुजूम देखने को मिला है। बिल्डिंग, शॉपिंग मॉल, नई-नई गाड़ियाँ, निजी स्कूल, वातानुकूलित घर आदि ने पर्यावरण को संकट के कटघरे में लाकर खड़ा कर दिया है। उपभोक्तावादी संस्कृति के इस रूप को विकास के मॉडल के रूप में स्वीकार किया गया है।

दूसरी ओर समाज का ऐसा तबका प्रभावित हुआ है जो प्रत्यक्ष रूप से प्रकृति पर आश्रित रहते आए हैं। औद्योगीकरण की उन्नति से वंचित समुदाय को विशेषतः आदिवासी समाज को विस्थापन की मार झेलनी पड़ी। उनकी संस्कृति, स्वायत्तता एवं अस्तित्व को ही दफनाने का प्रयास किया गया। वे अपनी जमीन से बेदखल होकर आजीविका के लिए मजदूर, घरेलू नौकर के रूप में कार्य करने के लिए विवश हैं। वास्तव में औद्योगीकरण पर आधारित विकास समाजीकरण के लक्ष्य से कोसों दूर है। वर्तमान संदर्भ में मानव मात्र के लिए मौजूदा विकास का मॉडल गंभीर चिंतन के केंद्र में है।

ii) विकास से संबंधित योजनाएँ: आर्थिक एवं शैक्षिक

विकास की एक रूपरेखा तैयार की गई जिसके तहत बड़े उद्योग, बड़ी-बड़ी इमारतें, कॉम्प्लेक्स, शॉपिंग मॉल, निजी शैक्षणिक संस्थान, पार्क आदि रिहायशी सुविधाओं को मुख्य रूप से शामिल किया गया। इनकी स्थापना के लिए बड़ी मात्रा में जमीन की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति आदिवासियों ने अपनी जमीन देकर की और विकास की प्रक्रिया चल पड़ी। सरकार ने कई परियोजनाएँ लागू की और परियोजनाओं की बाढ़ सी आ गई। तीव्र गति से औद्योगीकरण के विस्तार ने अर्थलोलुपता की प्रवृत्ति को बढ़ा दिया है जिसने जंगल का सबसे अधिक दोहन किया। देश की अर्थव्यवस्था के विकास के लिए प्राकृतिक संसाधनों का दोहन आवश्यक माना गया जिसके फलस्वरूप परंपरागत आर्थिक संरचना नष्ट अथवा प्रभावित हुई और उपभोक्तावादी संस्कृति को बढ़ावा मिला। पूँजीपतियों की मांगों को जाँच-पड़ताल किये बगैर सरकार ने पूरा किया जिसके कारण बड़ी-बड़ी परियोजनाओं यथा बांध एवं सिंचाई परियोजना, खनन परियोजना आदि को निर्धारित किया गया जिसने समाज और पर्यावरण को विशेष रूप से प्रभावित किया। इन परियोजनाओं पर चर्चा करना आवश्यक हो जाता है।

टाटा स्टील लिमिटेड (टिस्को)

टाटा स्टील कंपनी की स्थापना सन् 1907 में जमशेदजी नासरवान जी टाटा द्वारा की गई। भारत में आयरन एवं स्टील कंपनी की स्थापना की इच्छा लिये पूर्वी सिंहभूम जिले के साकची गाँव में इंटीग्रेटेड स्टील प्लांट लगाने की योजना बनाई। किन्तु असमय निधन के कारण उनकी इस इच्छा को उनके पुत्र दाराबजी टाटा ने पूर्ण किया और टिस्को (टाटा आयरन एवं स्टील कंपनी लिमिटेड) की स्थापना हुई। 8 जुलाई 1909 में टिस्को कंपनी और अंग्रेजी सरकार के मध्य समझौता हुआ जिसके अनुसार बिना आदिवासी रैयतों की जानकारी के अठारह आदिवासी ग्राम की 3,564.63 एकड़ भूमि का अधिग्रहण किया गया। उसी प्रकार 19 जनवरी

1912 को दस्तावेज बनाया गया जिसमें टिस्को कंपनी को प्लांट एवं टाउनशिप बनाने के लिये 3,509 एकड़ जमीन प्रदान किया गया। दूसरी बार समझौता 9 जुलाई 1918 को अंग्रेजी सरकार और टिस्को के मध्य हुआ जिसके तहत सिंहभूम जिले के धालभूम परगना स्थित कुल दस गाँव की 7,200.39 एकड़ भूमि का मालिकाना हक दिया गया। पुनः तीसरी बार अंग्रेजी सरकार और टिस्को के मध्य 18 अक्टूबर 1919 को समझौता हुआ जिसमें आवासीय एवं कृषि फार्म हेतु 12,214.74 एकड़ भूमि का अधिग्रहण किया गया। उपरोक्त आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि जैसे-जैसे समझौता होता गया, भूमि अधिग्रहण का सिलसिला तीव्रता से बढ़ने लगा। कुल मिलाकर 24 गाँव के आदिवासी अत्यधिक प्रभावित हुए जिसके तहत 12,550 परिवारों के 43,925 लोग अपने गाँव और जमीन से विस्थापित हुए। कालीमाटी और साकची शहर को मिलाकर जमशेदपुर का निर्माण हुआ। इस प्रकार जमशेदपुर अस्तित्व में आया जहाँ टाटा कंपनी की एकछत्र सत्ता स्थापित थी। पास के गाँव से लगान के रूप में लाखों रुपये वसूलते थे। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि टाटा कंपनी का समाज में प्रभुत्व स्थापित था।

प्रसिद्ध आदिवासी लेखक एवं कार्यकर्ता ग्लैडसन डुंगडुंग तथा सुनील मिंज ने झारखंड सरकार द्वारा दिये गए आँकड़ों के अनुसार बताया है कि टिस्को ने जितनी जमीनें अधिग्रहित की थी, उसका उपयोग उस रूप में नहीं किया गया। 12,708.59 एकड़ भूमि का 5.85 प्रतिशत भूमि का उपयोग कारखाना स्थापित करने के लिये किया गया। अर्थात् मात्र 744.16 एकड़ भूमि का उपयोग उद्देश्यापूर्ति के लिये किया गया। इसके अलावा कर्मचारियों के रहने की व्यवस्था के लिये 1418.94 एकड़ जमीन, अन्य विस्थापितों की आपूर्ति के लिए 2,235.39 एकड़ जमीन का ही इस्तेमाल किया गया। उपयोग की गई जमीनों के उपरोक्त आँकड़ों के अनुसार कुल 12,708.59 एकड़ जमीन में से 4,398.49 एकड़ जमीन का उपयोग किया गया। बाकी अनुपयोगी एवं रिक्त जमीनों को टिस्को द्वारा सब-लीज पर दे दिया गया। टिस्को द्वारा प्रयुक्त की गयी जमीन को निम्न आँकड़ों के अंतर्गत देखा जा सकता है -

क्र.	जमीन का प्रकार	जमीन का उपयोग	कुल रकबा	जमीन का उपयोग प्रतिशत में
1.	शिड्यूल-1	प्रोडक्शन प्रोसेस	744.16 एकड़	5.85
2.	शिड्यूल-2	हाउसिंग सुविधा	1418.94 एकड़	11.17
3.	शिड्यूल-3	नागरिक सुविधा	2235.39 एकड़	17.59
4.	शिड्यूल-4	सब-लीज	4301.75 एकड़	33.85
5.	शिड्यूल-5	खाली जमीन	4008.35 एकड़	31.54
	कुल		12,708.59 एकड़	100 ¹⁴

उपरोक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि शिड्यूल-4 और शिड्यूल-5 की जमीनों को मिलाकर 8,310.1 एकड़ जमीन होती है जिसका उपयोग न के बराबर किया गया। अर्थात् कारखाना की स्थापना के लिए जितनी जमीन की आवश्यकता थी उससे कई अधिक जमीन का जबरन अधिग्रहण किया गया और आदिवासी समुदाय विस्थापित हुए। टिस्को को 40 साल के लिए लीज पर जमीन दी गई जिसका कालखंड 1956 से 1995 तक प्रभावी रहा। 31 दिसंबर 1995 में लीज अवधि की समाप्ति पर टिस्को ने नवीकरण के लिए आवेदन किया। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि पहले 12,708.59 एकड़ जमीन को लीज पर देने की बात की गई थी और अब मात्र 10,992.51 एकड़ जमीन को अगले तीस सालों के लिए लीज पर देने की बात की जा रही है। किन्तु टिस्को को 10,992.51 एकड़ जमीन के स्थान पर 10,313.29 एकड़ जमीन देने का निर्णय लिया गया जिस पर टिस्को ने अपनी आपत्ति व्यक्त की और उच्च न्यायालय में मामला दर्ज किया। उच्च न्यायालय के आदेशानुसार बिहार सरकार ने इस मामले पर विचार किया तथा विचार-विमर्श करने के बाद टिस्को को जमीन लीज पर तीस वर्षों के लिए दिया गया जिसकी अवधि 1 जनवरी 1996 से प्रारम्भ होती है। तत्पश्चात् “अधिगृहित जमीन का अधिकांश

हिस्सा उपयोग में नहीं होने की स्थिति में टाटा कंपनी ने उस जमीन से भी मुनाफा कमाने का उपाय ढूंढा। कंपनी ने सरकार से बगैर अनुमति लिये ही 4,301.75 एकड़ जमीन को गैर-सरकारी संस्थानों, शैक्षिक संस्थानों, व्यापारिक प्रतिष्ठानों, धार्मिक संस्थानों, निजी कंपनियों को लीज पर दे दिया।¹⁵ इस प्रकार लाभ कमाने के उद्देश्य से रिक्त जमीनों को उसके मालिकों को वापस करने के बजाय सब-लीज पर अन्य संस्थानों को दे दिया गया।

हेवी इंजीनियरिंग कॉर्पोरेशन (एच.ई.सी.)

एच.ई.सी. की स्थापना सन् 1958 में झारखंड के राँची शहर में स्थित हटिया में हुई। एच.ई.सी. बड़ी परियोजनाओं में से एक मुख्य परियोजना है जिसकी स्थापना में तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू का मुख्य योगदान रहा है। “वे देश की तरक्की के लिए तेजी से औद्योगीकरण के पक्ष में थे। उनका मानना था कि औद्योगीकरण से देश की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा, लोगों के जीवन स्तर में बदलाव आयेगा और देश से गरीबी और अशिक्षा जैसी समस्याओं को दूर किया जा सकेगा।”¹⁶ एच.ई.सी. का मुख्य उद्देश्य लौह इस्पात के उत्पादन की क्षमता में वृद्धि करना था। एच.ई.सी. ने प्लांट, टाउनशिप और बड़ी-बड़ी मशीनों के निर्माण के लिए आदिवासियों की जमीनें अधिग्रहित की। हटिया के 23 गाँवों के परिवारों की 7,199.71 एकड़ जमीन का अधिग्रहण किया गया। इस कंपनी ने सन् 1958 में जमीन को जब्त करने का सिलसिला आरंभ किया। यह सिलसिला लंबे समय तक चला। एच.ई.सी. ने कुल 7,199.71 एकड़ भूमि में 4,199.71 एकड़ भूमि का इस्तेमाल उद्देश्यापूर्ति के लिए किया और शेष 3,000 एकड़ भूमि का इस्तेमाल नहीं किया गया जिसमें 793.68 एकड़ जमीन अवैध रूप से सब-लीज पर दे दिया गया और शेष 2,206.32 एकड़ जमीन रिक्त पड़ा रहा।

कहने का तात्पर्य यह है कि रिक्त एवं अनुपयोगी रहने के बावजूद भी इन जमीनों को उसके मूल मालिकों को वापस लौटाने की किसी प्रकार की चेष्टा नहीं की गई। उन रिक्त जमीनों को एच.ई.सी. ने विभिन्न प्राइवेट संस्थानों को सब-लीज पर दे दिया। एच.ई.सी. द्वारा

जमीन के हस्तांतरण को सरकार ने उचित नहीं समझा, “क्योंकि किसी विशेष लोकहित का प्रयोजन करते हुए किसी जमीन को अर्जित कर, बाद में उसका उस लोकप्रयोजन के लिए उपयोग नहीं कर दूसरे उद्देश्य से बंदोबस्त करने की बात को सरकार संबद्ध भू-स्वामियों को धोखा देना समझती है। यह स्पष्टतः गैर-कानूनी काम भी है। वास्तव में जिस विभाग के लिए भूमि का अर्जन किया जाता है, उस विभाग का उसकी आवश्यकता नहीं रहने पर ऐसी जमीन का दूसरे किसी को हस्तांतरित करने या दूसरे किसी के साथ बंदोबस्त करने का कोई अधिकार नहीं है।”¹⁷ इससे एच.ई.सी. पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और जमीनों का वितरण चलता रहा। भू-अर्जन अधिनियम के अनुसार अधिग्रहित जमीन का अनुपयोग करना, रिक्त रखना प्रावधान के प्रतिकूल है। आवश्यकता के अनुसार भूमि कंपनी को दिया जाता है ताकि उसका समुचित उपयोग हो सके। लेकिन प्रावधान में जो नियम बताए गए हैं भू-अर्जन की प्रक्रिया सम्पन्न होने तक उन नियमों का पालन नहीं किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि एच.ई.सी. ने आदिवासियों की जमीनें अधिग्रहित कर सरकारी और गैर-सरकारी संस्थानों को सब-लीज पर दे दिया और उन सब-लीज पर दी गई जमीनों का मुनाफा अर्जित किया। जमीनों के मूल मालिक आदिवासी हैं जिनके विकास के नाम पर भूमि अर्जित की गई, लेकिन विडम्बना ही है कि उनका विकास न होकर बाकी सबका (पूंजीपति वर्ग) विकास अवश्य हो रहा है।

बोकारो स्टील प्लांट

बोकारो स्टील प्लांट के बनने से 51 गाँव की 31,287.24 एकड़ जमीन को जब्त कर लिया गया। इसमें चास अंचल और जरीडीह अंचल के गाँव को सम्मिलित किया गया। इस स्टील प्लांट को खोलने के लिए आदिवासियों की मूल जमीन को जब्त कर सरकार ने उस जमीन पर सरकारी मुहर लगाकर उसे सरकारी जमीन में बदल दिया। इस कारण उन्हें विस्थापित बस्ती पर बसने के लिए विवश होना पड़ा और एक बड़ी संख्या में विस्थापन का दंश भोगना पड़ा। वस्तुतः सरकार द्वारा शेष जमीन उपयोग में न लायी जाने के कारण उस जमीन को

लौटाया नहीं गया। “केन्द्रीय इस्पात मंत्रालय के अनुसार 1972 में परियोजना निर्माण के समय कुल 6,019 परिवार यानी लगभग 30,095 लोग विस्थापित हुए। विस्थापित 51 गांवों में से सिर्फ 28 गांवों को पुनर्वासित किया गया एवं शेष 23 गाँव अपने पुराने स्थिति में ही हैं, जहाँ के लोग अपने पुश्तैनी घरों में रहकर खेती-बारी कर जीवन यापन कर रहे हैं। वहीं दूसरी ओर बाहर से आये गैर-विस्थापित लोग लगभग 6 हजार एकड़ जमीन पर अतिक्रमण कर रहे हैं जबकि सरकार मूल रैयतों को अधिशेष भूमि पर अधिकार वापस नहीं कर रही है।”¹⁸ इस तरह बोकारो स्टील प्लांट के लिए जो जमीन जब्त की गई उसका सही तरह से प्रयोग नहीं किया गया। 2005 कानून के अंतर्गत बी.एस.एल. प्रबंधन ने जो आंकड़ें तैयार किए, वह इस प्रकार हैं -

क्र.	जमीन का उपयोग	रकबा (एकड़ में)	प्रतिशत में
1.	प्लांट	5,864.32	18.7
2.	टाउनशिप	8,735.35	27.9
3.	गर्गा डैम रिजर्वयर	3,756	12
4.	पार्क (सिटी एंड सेक्टर लेवल)	622.25	2
5.	केंद्र, राज्य एवं अन्य सरकारी एजेंसियों को	2,246	7.1
6.	लीज में दिया गया	417.66	1.3
7.	खाली पड़ी जमीन	9,435.63	30.1
	कुल	31,287.24	100¹⁹

इससे यह पता चलता है कि भूमि जब्त करने से पूर्व भूमि की आवश्यकताओं के बारे में ठीक से जाँच-पड़ताल नहीं की गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि आदिवासियों की मूल जमीन को जब्त कर उन्हें उनकी ही जमीन से बेदखल कर दिया गया। इसका सबसे अधिक नुकसान फसल को हुआ। इसके अतिरिक्त गैर आदिवासी लोगों ने इनकी जमीन पर अपना अधिकार जमा लिया। बी.एस.एल. प्रबंधन ने जमीन को लीज पर दे दिया। इनके लिए जमीन का बंटवारा अपना हित साधने के लिए किया गया। इन जमीनों का प्रयोग न कर उसे अपना निजी जायदाद बना लिया। कंपनी ने जमीन के लिए राज्य सरकार से स्वीकृति नहीं ली और 423.03 एकड़ सरकारी जमीन को सब-लीज पर दे दिया जबकि यह अधिकार कंपनी को नहीं था। इन जमीनों में से 248.52 एकड़ जमीन निजी एजेंसियों को कॉम्प्लेक्स, हॉटेल, पेट्रोलपम्प, सिनेमाघर बनाने के लिए दे दिया गया जिसे सरकार ने उचित नहीं माना। इस प्रकार मुनाफा कमाने के लिए जमीनों का जबरदस्त हस्तांतरण किया गया। 'रेड जोन' उपन्यास में इस तथ्य को उजागर किया गया है जिसमें महेंद्र सिंह मानव से कहते हैं - "आपको जानकारी है, हजारों परिवारों को उजाड़ कर इस कारखाना के लिए जमीन का अधिग्रहण हुआ और आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि दो दशक में आधे से भी कम जमीन का इस्तेमाल वे कर सके हैं। शेष जमीन यूँ ही पड़ी है या फिर को-आपरेटिव बना कर, औद्योगिक क्षेत्र के उद्यमियों को बाँट रहे हैं। धन्ना सेठों को सिटी सेंटर में घर-दुकान बनाने के लिए लीज पर दे रहे हैं। मानों जमीन इनके बाप की है।"²⁰ स्पष्ट है कि अधिकांश जमीनें अनुपयोगी रही और उन जमीनों को लीज पर देकर भारी मुनाफा अर्जित किया गया।

फील्ड फायरिंग रेंज

फील्ड फायरिंग सैनिकों के प्रशिक्षण अथवा अभ्यास का एक अंग है। यहाँ सैनिक विभिन्न हथियारों एवं कारतूसों द्वारा गोलीबारी का अभ्यास करते हैं। देश में कई फील्ड फायरिंग रेंज हैं जिनमें नेतरहाट फील्ड फायरिंग रेंज, होरहाप फील्ड फायरिंग रेंज और देवरी-

डुमरी फील्ड फायरिंग रेंज प्रमुख हैं। ये तीनों फील्ड फायरिंग रेंज झारखंड राज्य के पलामू और गुमला जिले में अवस्थित हैं जो अंग्रेजी शासनकाल के दौरान से ही विद्यमान थीं। नेतरहाट फील्ड फायरिंग रेंज को स्वतन्त्रता पश्चात् सरकार द्वारा 1954 में अधिसूचित किया गया। इस समय तक सात गांवों को अभ्यास के लिए अधिसूचित किया गया। वर्ष 2002 तक इसकी अवधि बढ़ने के पश्चात् अधिसूचित गांवों की संख्या में विस्तारीकरण आया। इनमें से अधिकतर गाँव आदिवासी समुदाय के हैं जिनमें असुर, कोरबा, बिरहोड़, उरांव, मुंडा, महली आदि आदिवासी समुदाय बड़ी मात्रा में अपने क्षेत्र से विस्थापित हुए। फील्ड फायरिंग रेंज के लिए कई गांवों को अधिग्रहित किया गया जिनमें 245 ग्राम के 2,35,000 संख्या में लोग विस्थापित हुए। दैनिक मुआवजा के रूप में प्रत्येक दिन अल्पवयस्कों और वयस्कों को क्रमशः 1.50 रु. एवं 3 रु. दिया जाता है जिसका भुगतान कई वर्षों से ठप्प पड़ा है। इस विशाल परियोजना के विरुद्ध में लोगों ने जन संघर्ष समिति का गठन कर आंदोलन किया। “9 अप्रैल, 1994 को राँची और नई दिल्ली में विशाल प्रदर्शन कर विस्थापन के खिलाफ आदिवासियों ने जंगल-जमीन पर अधिकार का नारा बुलंद किया। फलतः भारत सरकार को नेतरहाट में पायलट प्रोजेक्ट बनाने की योजना रद्द करनी पड़ी।”²¹ 22 मार्च 1994 को स्त्रियों ने उन सैनिकों को खदेड़ कर वापस लौट जाने के लिए विवश किया जो इस क्षेत्र में अभ्यास के लिए आए थे। यह आंदोलन लगभग तीस वर्षों से चल रहा है। 11 मई 2022 को इसकी समय-सीमा समाप्त हो रही है और आदिवासियों को भय है कि कहीं पिछली बार की तरह इस बार भी इसकी अवधि न बढ़ा दी जाए। अतः इस योजना को रद्द करने के लिए नेतरहाट में आंदोलन चला और 21 अप्रैल से 25 अप्रैल 2022 तक पदयात्रा का आयोजन किया गया। अंत में राज्यपाल को ज्ञापन सौंपा जाएगा। ‘जान देंगे जमीन नहीं’ की आवाज पूरे नेतरहाट में गुंजायमान रही है। “उसी तरह विरोध दर्ज करने एवं अपनी सहभागिता दिखाने के लिए आंदोलनरत महिलाओं ने एक अनोखा तरीका अपनाया है जहाँ वे हरी पत्तियों वाले पेड़ों की छोटी डालियों (हरिहर हाहुरा) को हर गाँव के प्रत्येक दरवाजे में खोंस देते थे। उसी तरह छोटे बच्चे मशाल जुलूस निकालकर नारे लगाना सीख गए हैं।

चट्टानों, पेड़ों और दीवारों पर “जान देंगे जमीन नहीं” के नारे खुद दिए गए।²² इस आंदोलन का कोई प्रमुख नेता नहीं है जिसके नेतृत्व में आंदोलन चला है। सभी सामुदायिक रूप से आंदोलन कर रहे हैं। वर्तमान में जेरोम जेराल्ड कुजूर इस आंदोलन के लिए खड़े दिखाई देते हैं। इन्होंने ‘जान देंगे जमीन नहीं’ पुस्तक में नेतरहाट फील्ड फायरिंग रेंज की विस्तार से चर्चा की है।

स्वर्णरेखा परियोजना

स्वर्णरेखा नदी परियोजना अब तक की नदी घाटी परियोजनाओं में से सबसे बड़ी परियोजना है। इस परियोजना की स्थापना 1978 को तीन राज्यों - बिहार, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल के सम्मिलित योगदान से हुई। इस परियोजना का निर्माण सिंचाई व्यवस्था, जल आपदा पर नियंत्रण तथा विभिन्न उद्योगों को जल आपूर्ति के उद्देश्य से किया जा रहा है जिसका प्रत्यक्ष लाभ उन तीनों राज्यों को मिलेगा। इस परियोजना के तहत दो बड़े बाँधों का निर्माण किया जाएगा - पहला बाँध चांडिल के निकट स्वर्णरेखा नदी पर तथा दूसरा बाँध चाइबासा के निकट खरकाई नदी पर। ऐसा अनुमान है कि इस परियोजना के माध्यम से झारखंड में 5,73,000 एकड़ जमीन की सिंचाई संभव है, परंतु - “असल में यह परियोजना सिंचाई के विकास के लिए है ही नहीं। असल में इससे पूँजीपतियों को उनके कारखानों के लिए पानी दिया जाएगा। जमशेदपुर के चारों तरफ बन रहे कारखानों को इस परियोजना से छह लाख एकड़ फुट पानी मिलेगा और सिर्फ इस पानी की बिक्री से ही हर साल 306 लाख रु. की कमाई सरकार को होगी।”²³ बाँध के साथ-साथ नहर बनाने की योजना भी इस परियोजना के अंतर्गत सम्मिलित किया गया है ताकि इस नहर के माध्यम से विशाल खनिज पदार्थ एवं संसाधनों को पश्चिम बंगाल और उड़ीसा के बन्दरगाहों तक पहुंचाया जा सके। 1978 में 400 करोड़ रुपये की लागत से इस परियोजना की शुरुआत हुई थी जो वर्तमान में एक हजार करोड़ रुपये तक पहुँच गया है। अर्थात् अब यह परियोजना एक हजार करोड़ रुपये की लागत पर शुरू किया जाएगा। विश्व

को ऋण देने वाला विश्व बैंक इस परियोजना में अपनी रुचि दिखाते हुए ऋण देने के लिए तैयार है। “विश्व बैंक को झारखंड में सिंचाई के विकास से कुछ भी लेना-देना नहीं है। विश्व बैंक रुपया दे रहा है उन साम्राज्यवादियों के फायदे के लिए, जिनकी पूंजी से विश्व बैंक चलता है। विश्व बैंक रुपया दे रहा है उन उद्योगों में पानी पहुंचाने के लिए, जो उद्योग साम्राज्यवादियों के विश्व-बाजार का आधार है।”²⁴ इस परियोजना के लिए चांडिल के निकट लगभग 50 हजार एकड़ जमीन के जलमग्न और 50 हजार लोगों के विस्थापित होने की संभावना है। प्रश्न यह उठता है कि जब आदिवासी अपनी ही जमीन से विस्थापित हो जाएंगे तो विकास किसका होगा। एक बार विस्थापित होने के बाद भविष्य में वे वहीं पर बसे रहेंगे, इसकी कोई गारंटी नहीं है। किसी परियोजना के कारण उन्हें पुनः विस्थापित किया जाए तो वह विकास हो ही नहीं सकता है। स्वर्णरेखा परियोजना के लिए चांडिल के निकट 42,000 एकड़ जमीन का अधिग्रहण किया गया। ये सारी जमीनें अत्यंत उपजाऊ और चासी जमीन है जो किसानों की आय का एकमात्र जरिया रहा है। जमीन का मूल्य निश्चित करने के क्रम में वन विभाग की बंजर जमीन का मूल्य 7,000 रु. प्रति एकड़ रखा गया और किसानों की जमीन 700 रु. प्रति एकड़ की दर तय की गई। यह मूल्य साबित करता है कि यह प्रत्यक्षतः जमीनों की लूट है जिसे आदिवासियों से छीनी जा रही है। लोगों ने इसका विरोध किया। चूंकि हर विरोध का दमन शांतिपूर्ण नहीं होता है। लोगों के इस विरोध का दमन भी बर्बरतापूर्वक किया गया। इस प्रकार स्वर्णरेखा नदी घाटी परियोजना हो या अन्य कोई परियोजना, सभी परियोजनाएं तभी सार्थक सिद्ध होंगी जब जनता की आवश्यकताओं और साधनों को ध्यान में रखा जाए। किसी विशिष्ट क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुकूल योजनाएँ निर्मित करना अत्यंत आवश्यक है। उदाहरण के लिए झारखंड को लें, झारखंड की जमीन समतलप्राय न होकर ऊंची-नीची है जिससे जल का बहाव दूर तक पहुँच नहीं पाता है और बड़े-बड़े बाँध परियोजना के कारण जमीनों के जलमग्न होने की संभावना बढ़ जाती है। छोटे-छोटे बाँध का निर्माण कर सिंचाई की व्यवस्था की जा सकती है जिससे ग्रामीणों को एक तो कोई क्षति नहीं होती है और दूसरी जल

की आपूर्ति की समुचित व्यवस्था उपलब्ध हो जाती है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि कृषक कई वर्षों से ऐसा करते आए हैं। पद्मश्री सिमोन उरांव द्वारा किया गया प्रयास इसका एक जीवंत उदाहरण पेश करता है। वॉटरमैन के नाम से विख्यात सिमोन उरांव जी ने जल संरक्षण के लिए झारखंड में कई छोटे बांध, तालाब और कुएं बनाकर कृषि के लिए जल आपूर्ति की व्यवस्था की ताकि ग्रामीण लोग देखे, सीखे और करे। स्थान की कमी के कारण उन्होंने अपनी जमीन देकर जल आपूर्ति की सुविधा प्रदान की। सात साल से ही उन्होंने हल चलाना सीखा और पंद्रह वर्ष की उम्र में उन्होंने बांध बांधना शुरू किया। ग्रामीण जनता ने मिलकर सरकार के समक्ष बांध बांधने का प्रस्ताव रखा, लेकिन सरकार ने बांध बांधने के लिए आर्थिक सहायता देने से मना कर दिया। तो गाँव में विचार तय हुआ कि वे खुद से बांध बनाएँगे। गिद्धटिकरा और बोखोटिकरा के बीच में बांध बनाने से जनता को लाभ मिलेगा। सबने अपनी जमीनें दी और बांध निर्मित हुआ। बांध बना और सघन खेती हुई। भूख क्या होता है, यह उस गाँव के लोगों को मालूम ही नहीं है। जंगल, नदी, पहाड़, पृथ्वी, आकाश के संरक्षण की जिम्मेदारी मनुष्य को दी गई और मनुष्य ही इन सबको नष्ट करने पर तुला हुआ है जो कि सही नहीं है। ग्राम सभा सर्वोच्च संस्था है जहाँ बैठकर सभी विचार करते हैं कि जल, जंगल, जमीन को कैसे रखना है, कोई बाहरी व्यवस्था इसका निर्णय नहीं ले सकती है। 45 फीट गईघाट बांध, झरिया बांध आदि सामूहिक योगदान का सफल उदाहरण है जिसे बनने में दस साल लगे। इसके साथ-साथ 5500 फीट नाले को भी बनाया गया। कहने का तात्पर्य यह है कि बड़े बांध की तुलना में छोटे-छोटे बांध, तालाब आदि के निर्माण से ग्रामीणों को अत्यधिक लाभ मिलता है।

हसदेव अरण्य

इसमें कोई दो राय नहीं जल, जंगल, जमीन आदिवासी समुदाय के लिए जीवन है। लेकिन आज जल, जंगल, जमीन के बिना आदिवासी समुदाय का जीवन खतरे में है। जंगल खनिज संसाधनों से सम्पन्न रहा है और इन खनिज संसाधनों के दोहन के लिए असंख्य पेड़ों

को काटा जा रहा है। कोयला खनन के लिए कॉरपोरेट घरानों को विशाल प्रोजेक्ट की स्वीकृति दी गई और दी जा रही है जिसके लिए बड़ी मात्रा में जमीनों का अधिग्रहण किया गया है। लाखों की संख्या में लोग विस्थापित हुए हैं जिसमें आदिवासियों की संख्या अधिक है। उपरोक्त संदर्भ में हसदेव अरण्य कोयला खनन परियोजना (कोल माइन्स प्रोजेक्ट) को एक उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। हसदेव जंगल छत्तीसगढ़ राज्य के कोरबा, सरगुजा तथा सूरजपुर क्षेत्र के मध्य में स्थित है। हसदेव जंगल कोयले की प्रचुरता के लिए सुप्रसिद्ध है। अनुमान लगाया जाता है कि यहाँ 55,000 मिलियन टन कोयला उपलब्ध है जिसके खनन के लिए जंगल के वृक्षों को काटना आवश्यक है। हसदेव जंगल के परसा ईस्ट केटे बासेन कोयला परियोजना के तहत कोयला खनन की योजना लागू की गई है। इसके लिए 640 हेक्टेयर भूमि का अधिग्रहण किया गया। परसा ईस्ट केटे बासेन कोयला परियोजना को दो चरणों में विभाजित किया गया। पहले चरण में 137 मिलियन टन कोयले के खनन के लिए 15 वर्ष की अवधि दी गई। पहले चरण की अवधि समाप्त हो जाने के बाद ही दूसरे चरण का खनन कार्य प्रारंभ होगा जो 2008 से होना था। किन्तु अडानी ग्रुप ने यह कहकर दूसरे चरण के खनन की अनुमति प्राप्त कर ली कि कोयले की आपूर्ति समाप्त हो चुकी है। अतः समयावधि से पूर्व पेड़ों की कटाई एवं भूमि अधिग्रहण का कार्य प्रारंभ ही चुका है। राज्य सरकार ने यह कहकर अनुमति दी कि बिजली आपूर्ति के लिए कोयला निकालना ही पड़ेगा। आदिवासी तथा अन्य लोगों ने इसका जमकर विरोध किया है और पेड़ों की अंधाधुंध कटाई के विरुद्ध डटकर खड़े हैं। हालांकि यह विरोध एक दशक से चल रहा है जब 2011 में इस परियोजना को लागू करने की अनुमति प्रदान की गई। सन् 2010 तक यह एक प्रतिबंधित क्षेत्र कहलाता था जहाँ किसी प्रकार के खनन कार्य करने की अनुमति नहीं थी। “हसदेव अरण्य की समृद्धि जैव विविधता और उच्च पारिस्थितिक के कारण कोयला मंत्रालय और वन एवं पर्यावरण मंत्रालय ने 2010 में एक संयुक्त अध्ययन के बाद, इस इलाके को किसी भी तरह के खनन के लिए प्रतिबंधित करते हुए इसे ‘नो गो एरिया’ घोषित किया था। लेकिन कम लागत में अधिक से अधिक कोयला

निकालने की नीति के कारण साल भर के भीतर ही परसा ईस्ट केटे बासन कोयला खदान को यह कहते हुए मंजूरी दे दी गई कि भविष्य में हसदेव अरण्य के इलाके में किसी और खदान की मंजूरी नहीं दी जाएगी।”²⁵ कोई भी निर्णय लेने से पूर्व ग्राम सभा की अनुमति अनिवार्य है। हसदेव अरण्य कोयला परियोजना के संबंध में यह कहा जाता है कि कोयला उत्खनन के लिए ग्राम सभा से किसी प्रकार की अनुमति नहीं ली गई। सन् 2021 में इसके विरोध में आदिवासियों की विशाल संख्या (लगभग 500) ने रायपुर तक 300 कि. मी. की पैदल यात्रा की और भूमि अधिग्रहण की प्रक्रिया को रोकने की मांग की। सरकारी आँकड़ों के अनुसार 95000 वृक्षों के कटने का अनुमान है, लेकिन सोशल एक्टिविस्ट ने दो लाख से ज्यादा वृक्षों के कटने की आशंका व्यक्त की है। यदि जंगल ही नहीं रहेगा तो वहाँ के वाशिंग्टन - मनुष्य, पशु-पक्षी, का अस्तित्व संकट में पड़ जाएगा। हसदेव अरण्य कोयला परियोजना से सैकड़ों आदिवासी अपने निवास स्थान से उजड़ जाएंगे और चार लाख से भी अधिक संख्या में वृक्षों की कटाई होगी।

कोयलकारो बाँध परियोजना

देश की वृहद बाँध परियोजनाओं में से कोयलकारो बाँध परियोजना दूसरी वृहद बाँध परियोजना है। कोयल नदी पर दो बाँध बनाने की योजना निर्मित की गई - एक गुमला जिले के बसिया क्षेत्र में (उत्तरी कारो) और दूसरा लोहाजिमी गाँव में क्रमशः 44 मी. और 55 मी. ऊंचे बाँध बनाए गए। वर्ष 1955 में इसकी योजना तय की गई और 1973 में बिहार स्टेट इलेक्ट्रिसिटी बोर्ड द्वारा इसे सूत्रबद्ध किया गया। यह क्षेत्र आदिवासी बहुल इलाका है जहाँ मुंडा आदिवासी समुदाय के गुड़िया गोत्र के लोग निवास करते रहे हैं। इस योजना के माध्यम से 710 मेगावाट विद्युत उत्पादन की योजना निर्मित की गई। योजना के प्रारम्भ में 390.4 करोड़ रु. की धनराशि व्यय करना निश्चित किया गया जो धीरे-धीरे 1000 करोड़ रु. की लागत तक पहुँच गया और वर्तमान में अब तक कुल धनराशि के रूप में 2,391.36 करोड़ रु. खर्च किए जा चुके हैं। वर्ष 1974 में बाँध कार्य शुरू होने पर ग्रामीण जनता ने इसका विरोध प्रदर्शन

किया जिससे परियोजना को उस समय के लिए स्थगित कर दिया गया। एक तो इस परियोजना में आदिवासियों को शामिल नहीं किया गया और न ही उनसे सहमति लेना आवश्यक समझा गया। दूसरा इस परियोजना से सैकड़ों गाँव जलमग्न हो जाएंगे और लाखों लोगों को विस्थापन का दंश झेलना पड़ेगा। प्रसिद्ध आदिवासी चिंतक हेरॉल्ड एस तोपनो ने बताया - “कोयलकारो में 50,000 एकड़ जमीन डूबेगी जिसमें 25 से 30 हजार एकड़ कृषि योग्य जमीन होगी। बाकी जंगल, सरना और ससनदिरी होंगे। जिस पर आदिवासियों का परंपरागत अधिकार है। बिहार सम्पूर्ण क्रांति मंच के अनुसार 85-90 फीसदी आदिवासी उन्मूलित होंगे। इस उन्मूलन का भय और ‘पवित्र’ जंगलों से उखड़ने की आशंका से ही इस बाँध का विरोध किया जा रहा है।”²⁶ वर्ष 1976 में ‘कोयलकारो जन संगठन’ का गठन किया गया जिसने जमीन अधिग्रहण और बाँध परियोजना निर्माण कार्य का विरोध किया। सरकार ने उनकी मांगों को स्वीकार नहीं किया तो ‘कोयलकारो जन संगठन’ ने 1977 में काम रोको अभियान चलाया। सरकार ने बाँध परियोजना कार्य एनएचपीसी (NHPC) को सौंपा। जन संगठन ने सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्वास की मांग की जिस पर एनएचपीसी ने कोई ध्यान नहीं दिया और न ही इसके लिए किसी प्रकार का कदम उठाया गया। वर्ष 1984 के जुलाई माह में भूमि अधिग्रहण के लिए पुलिस फोर्स परियोजना स्थल पर पहुँची, किन्तु आदिवासी स्त्रियों के तीव्र विरोध के परिणामस्वरूप पुलिस को विरोध स्थल से लौट जाना पड़ा। ग्रामीणों द्वारा सुप्रीम कोर्ट में याचिका पेश करने पर सुप्रीम कोर्ट द्वारा बाँध कार्य को स्थगित करने का आदेश दिया गया। “सुप्रीम कोर्ट में 1989 तक केस चला और पुनर्वास के लिए नया मसौदा तैयार किया गया। जिसमें विस्थापितों को जमीन (25 डिसमिल) और नौकरी देने की पेशकेश की गयी। ‘सेल्फ एंप्लायड’ होने के लिए आर्थिक सहयोग देने की भी बात की गयी। कोयलकारो जन संगठन ने इस मसौदे को भी ठुकरा दिया, क्योंकि इसमें सांस्कृतिक पुनर्वास की बात शामिल नहीं थी। पर्यावरण मंत्रालय ने आदेश दिया है कि नया मसौदा तैयार किया जाये, जैसा कि गुजरात के सरदार सरोवर के लिए किया गया है। इसमें पर्यावरण विभाग से ‘फ्रेस क्लियरेंस’ लेना होगा, तभी परियोजना का काम शुरू किया जा

सकता है।”²⁷ इन सबके मध्य वर्ष 1995 में बांध कार्य को पुनः शुरू करने का निर्णय लिया गया और 5 जुलाई 1995 को देश के पूर्व प्रधानमंत्री पी वी नरसिम्हा राव द्वारा शिलान्यास का कार्यक्रम निश्चित किया गया जो ग्रामीणों के विरोध के कारण सम्पन्न नहीं हो सका। लोगों ने मोर्चाबंदी लगाई ताकि सरकारी अफसर उस क्षेत्र में प्रवेश न कर सके। 1 फरवरी 2001 में पुलिस ने मोर्चाबंदी को नष्ट कर दिया। 2 फरवरी को सभी ग्रामीण जनता तपकारा पुलिस स्टेशन के समक्ष अपनी मांग सहित प्रस्तुत हुई। उनकी मांगों को पूरा करने के बजाय पुलिस ने उन पर फायरिंग शुरू कर दिया जिसमें से 8 आदिवासी लोगों की मौत हो गई। उक्त घटना के संदर्भ में ‘डाउन टू अर्थ’ मैगजीन से लिया गया सोमा मुंडा (कोयलकारो जन संगठन के अध्यक्ष) का कथन द्रष्टव्य है - “We don’t trust any political party. Wherever a dam has come up, political parties have done the people in. We know the government is interested as long as we have the land. Once we move out, we will lose everything.”²⁸ वर्ष 2003 में पुनः इस परियोजना कार्य को स्थगित कर दिया गया, लेकिन इसे पूरी तरह से समाप्त नहीं माना जा सकता है। जितनी समयावधि के लिए इस परियोजना को स्थगित किया गया है, लागत धनराशि में उतना ही इजाफा हुआ है। इस बांध परियोजना के विरुद्ध आदिवासियों का संघर्ष जारी है।

कुटकु बांध परियोजना

इस परियोजना की नींव 1970 में रखी गई। झारखंड राज्य के लातेहार और पलामू जिले तक विस्तृत यह परियोजना उत्तरी कोयल बांध परियोजना भी कहलाता है। नब्बे के दशक में लोगों के विरोध प्रदर्शन के कारण इस कार्य को स्थगित कर दिया गया था। यह क्षेत्र पलामू टाइगर रिजर्व के अंतर्गत शामिल है। बाघ संरक्षण योजना के तहत यह क्षेत्र रिजर्व फॉरेस्ट बन गया। इस क्षेत्र में बाघ तथा अन्य पशुओं जैसे हाथी, भालू, जंगली सूअर आदि के अतिरिक्त आदिवासी समुदाय निवास करती है। कुटकु बांध परियोजना के पुनः क्रियान्वयन से पलामू

टाइगर रिजर्व के कई भाग जलमग्न हो जाएंगे। वर्ष 2018 में इस बांध परियोजना को पर्यावरण मंत्रालय से अनुमति प्राप्त हो गई जिसके तहत हजार हेक्टेयर से ज्यादा वन प्रदेश क्षत-विक्षत हो जाएंगे। ये वन क्षेत्र और इस क्षेत्र के वाशिंदे बांध से प्रत्यक्षतः प्रभावित होंगे और लगभग साढ़े तीन लाख वृक्षों की कटाई होगी जो पर्यावरण के लिए विनाशकारी सिद्ध होगा। “पर्यावरण कार्यकर्ताओं का कहना है कि बांध के कारण क्षेत्र के पर्यावरण, वन्य जीव और पारिस्थितिकी तंत्र को खतरा है। यह क्षेत्र में रहने वाले सैकड़ों आदिवासियों को भी विस्थापित करेगा। सरकार नियोजित साइट स्पेसिफिक वाइल्ड लाइफ मैनेजमेंट प्लान (स्थल विशेष वन्यजीव प्रबंधन योजना) - एक दस्तावेज जो आसपास की जैवविविधता, वन्य जीवन और क्षेत्रों के लोगों पर बांध के प्रभाव का आकलन करती है - के आंकड़ों के अनुसार उत्तर कोयल नदी के पानी से कम से कम गाँव जलमग्न हो जाएंगे।”²⁹ उपरोक्त समस्या के कारण ही आदिवासी इस परियोजना का विरोध करते दिखाई देते हैं। यद्यपि पुनर्वास के लिए जो जमीन उपलब्ध की गई थी वह अनुपजाऊ जमीन होने के कारण विकल्प उचित मानदंडों में सटीक नहीं बैठता। सरकारी अधिकारियों द्वारा सर्वेक्षण के दौरान आदिवासियों को यह ज्ञात ही नहीं था कि उनका क्षेत्र बांध से प्रभावित क्षेत्र के अंतर्गत आता है। आदिवासियों का इस परियोजना का विरोध करने का एक कारण यह भी है कि इस परियोजना को उनकी सहमति के बिना आगे बढ़ाया जा रहा है। जबकि कानून यह कहता है कि प्रत्येक परियोजना लागू करने एवं आगे बढ़ाने से पूर्व ग्रामीणों की सहमति आवश्यक है तथा पुनर्वास की उचित व्यवस्था उपलब्ध होने के पश्चात् ही ग्रामीणों का स्थानांतरण किया जाना है। कुटकु बांध निर्माण कार्य का उद्देश्य सिंचाई की उचित व्यवस्था तथा अकाल, सूखा जैसी समस्या का हल करना सर्वप्रमुख था। इस बांध से पलामू, औरंगाबाद, गया जिलों को सिंचाई के लिए पर्याप्त जल की सुविधा प्राप्त होगी। किन्तु यह स्पष्ट है कि इस सिंचाई परियोजना से कृषकों को कोई लाभ नहीं मिलेगा। वर्ष 2018 में इस परियोजना को पुनः स्वीकृति मिली, किन्तु पहले से उजड़े आदिवासियों के स्थानांतरण की समुचित व्यवस्था नहीं की गई और वे उसी रूप में प्रभावित क्षेत्र में निवास कर रहे थे जैसा

पूर्ववत थे। कुल मिलाकर बांध परियोजना से न केवल ग्रामीण, बल्कि पेड़-पौधे, पशु-पक्षी सहित वातावरण प्रभावित होगा जो सदियों से स्थापित आपसी तारतम्य के लिए घातक साबित होगा। स्थानीय कार्यकर्ता एवं लेखक जेरोम जेराल्ड कुजूर के शब्दों में - “1970 के दशक में जब बांध बनाया जा रहा था, तो बहुतों को इस बात की जानकारी नहीं थी कि बड़ी परियोजनाएँ पर्यावरण पर कैसा प्रलय लाती है। उनको लगता था कि बांध लोगों के हित में है। लेकिन अनुभव ने सिखाया है कि बांध कैसी-कैसी विपदाएँ साथ लाते हैं। पीटीआर हजारों आदिवासियों का निवास स्थान है जिनके ऊपर आज तक भयानक खतरा मंडरा रहा है। हम केवल जमीन ही नहीं खो रहे हैं बल्कि पर्यावरण पर हमेशा के लिए होने वाले असर के भी गवाह बनने जा रहे हैं।”³⁰

सरकार ने आर्थिक विकास से संबंधित योजनाओं के साथ-साथ शैक्षिक विकास से संबंधित कई योजनाओं को भी लागू किया। केन्द्रीय, राज्य अथवा दोनों सरकारों के सम्मिलित रूप से ये योजनाएँ लागू की गईं। केंद्र एवं राज्य सरकार द्वारा ‘कस्तूरबा गांधी आवासीय विद्यालय’ की स्थापना की गई। इस योजना के अंतर्गत अनुसूचित जाति व जनजाति तथा वंचित समुदायों की बेटियों को इंटर तक की शिक्षा उपलब्ध कराने की योजना तय की गई। जिन लड़कियों ने प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् पढ़ाई अधूरी छोड़ दी, उन लड़कियों को पुनः अपनी पढ़ाई शुरू करने एवं शिक्षा जारी रखने का अवसर प्रदान करना इस योजना का मूल उद्देश्य है।

केंद्र एवं राज्य सरकार के कल्याण विभाग द्वारा छात्रों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से विभिन्न छात्रवृत्ति देने की योजना निर्मित की जिसके अंतर्गत प्री. मेट्रिक छात्रवृत्ति योजना, पोस्ट मेट्रिक छात्रवृत्ति योजना, आंबेडकर तकनीकी छात्रवृत्ति योजना, बिरसा मुंडा तकनीकी छात्रवृत्ति प्रमुख है। प्री. मेट्रिक छात्रवृत्ति कक्षा दस तक की शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को प्रदान करने की योजना शामिल है तथा मेट्रिक के बाद की शिक्षा उपलब्ध कराने के उद्देश्य से पोस्ट मेट्रिक छात्रवृत्ति की योजना का प्रावधान है।

इंजीनियरिंग संस्थानों में शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों को आंबेडकर तकनीकी छात्रवृत्ति की योजना निर्मित की गई। इस योजना के अंतर्गत विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति सहित प्रवेश शुल्क, परीक्षा शुल्क, संस्था शुल्क देने की अनुसंधान की गई। जनजातीय कल्याण कार्यक्रम के अंतर्गत इंजीनियरिंग व मेडिकल की शिक्षा प्राप्त करने वाले अध्ययनकर्ताओं को बिरसा मुंडा तकनीकी छात्रवृत्ति प्रदान करने की योजना बनी। यह योजना झारखंड राज्य के उन आदिवासी विद्यार्थियों के लिए विशेषतः बनायी गई जो राज्य के बाहर उच्च संस्थानों में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। छात्रवृत्ति के रूप में संस्थानों को दिये जाने वाले विभिन्न शुल्क प्रदान की जाने की अनुसंधान है।

कम्प्यूटर आधारित शिक्षा व्यवस्था उपलब्ध कराने के उद्देश्य से आदिवासी विद्यालयों में कम्प्यूटर अधिष्ठापन की योजना बनायी गई। इस योजना का उद्देश्य झारखंड में स्थापित विद्यालयों में विद्यार्थियों को कम्प्यूटर के माध्यम से शिक्षा देने की अनुसंधान की गई।

इसके अतिरिक्त राज्य सरकार द्वारा शिक्षा जगत के विकास के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण देने की योजना निर्मित की गई। पहाड़िया व्यावसायिक प्रशिक्षण योजना के तहत पहाड़िया आदिवासी समुदाय को रोजगार उपलब्ध कराने का प्रावधान है। इसके अंतर्गत बेरोजगार बैठे पहाड़िया आदिवासी युवक-युवतियों को बिना मूल्य कई तरह के प्रशिक्षण देकर रोजगार उपलब्ध किया जाएगा।

केंद्र व राज्य सरकार द्वारा विद्यालयों में मध्याह्न भोजन उपलब्ध कराने की योजना तैयार की गई। कल्याण विभाग के अंतर्गत पहाड़िया विद्यालयों में मध्याह्न भोजन योजना की अनुसंधान की गई। पहाड़िया क्षेत्र के अंतर्गत दुमका, गोड्डा, साहेबगंज, पाकुड़ जिलों में स्थापित पहाड़िया विद्यालय के छात्र-छात्राओं को शिक्षा के लिए प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से मध्याह्न भोजन की योजना सरकार ने तय की।

छात्रावास की समस्या से उबरने के लिए छात्रावास निर्माण योजना तैयार किया गया जिसके तहत झारखंड राज्य के कई जिलों के रहने वाले विद्यार्थियों के लिए उचित छात्रावास की सुविधा उपलब्ध की गई। आदिवासी छात्राओं के लिए पोशाक आपूर्ति योजना बनाई गई जिसके तहत जो छात्राएँ सरकारी संस्थाओं से शिक्षा प्राप्त कर रही हैं, उन्हें बिना मूल्य पोशाक वितरित करने की अनुसंधान की गई ताकि सरकार आदिवासी समुदाय की बेटियों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित कर सके। बालिकाओं के शैक्षिक विकास के अंतर्गत छात्राओं को साइकिल आपूर्ति की योजना प्रमुख है। इस योजना का उद्देश्य दूरस्थ क्षेत्रों में रहने वाली बालिकाओं को सुगमतापूर्वक विद्यालयों तक पहुँचने की दृष्टि से सुविधा प्रदान करना है। आधे से अधिक बालिकाएँ घर से विद्यालय की दूरी अधिक होने के कारण विद्यालय नहीं जा पाती हैं और पढ़ाई अधूरी छोड़ने पर विवश हो जाती हैं। अतः इस समस्या को दूर करने तथा आठवीं, नौवीं और दसवीं श्रेणी की स्कूली बालिकाओं को स्कूल जाने के लिए प्रोत्साहित करने हेतु साइकिल प्रदान करने की योजना निर्मित की गई।

उपरोक्त योजनाओं पर दृष्टिपात करें तो हम पाते हैं कि ये सारी योजनाएँ आदिवासी युवक-युवतियों को शिक्षा के लिए प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से लागू की गई थी ताकि आदिवासी समुदाय का शैक्षिक स्तर पर विकास हो सके। लेकिन आदिवासी युवा वर्ग इस लाभ से वंचित रह गए। देखा जाए तो विकास तो हुआ, परंतु इसका पूरा-पूरा मुनाफा अन्य समाज को अधिक मिला। अब स्थिति यह है कि शिक्षित होकर आदिवासी प्रत्येक कार्य में आगे बढ़ रहे हैं। हालाँकि आर्थिक स्थिति के कारण उन्हें समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली लोगों को अधिक-से-अधिक रोजगार के अवसर दे रही है। सरकार शिक्षा संबंधी जो धन-राशि देती है उसका समुचित उपयोग नहीं होता है। यदि इन योजनाओं का सही क्रियान्वयन हो तो आदिवासी युवा पीढ़ी भी अन्य समुदाय की भांति एक बढ़िया नौकरी प्राप्त करने में सक्षम होगी क्योंकि आदिवासी युवाओं में टैलेंट का अभाव नहीं है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि विकास से संबंधित बड़ी-बड़ी परियोजनाएँ लागू की गईं। उसके लिए आदिवासियों ने अपनी जमीनें दी, लेकिन उन परियोजनाओं में कहीं भी आदिवासी शामिल नहीं था। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि विकास नहीं हुआ, देश का विकास तो हुआ, लेकिन उस विकास के मॉडल से आदिवासियों को विशेष लाभ नहीं हुआ। स्टील प्लांट, बांध निर्माण, खनन उद्योग, फील्ड फायरिंग रेंज, सिंचाई परियोजना आदि विकास के नाम पर जमीनों का वितरण अधिक हुआ और अधिक मुनाफा अर्जित किया गया। कई बड़ी परियोजनाएँ बंद होने के कगार पर आ गई हैं, लेकिन उनके बंद होने से आदिवासियों के जल, जंगल, जमीनों का दोहन नहीं रुका। मुनाफे की संस्कृति आदिवासी समुदाय में नहीं रही है। आदिवासी आवश्यकतानुसार उत्पादन करता था और उसका उपयोग करता था। कॉरपोरेट जगत के अधिक उत्पादन की संस्कृति (सरप्लस कल्चर) ने आदिवासियों को अपनी जड़ों से निर्मूल कर दिया।

iii) आदिवासी जीवन के संदर्भ में विकास

इससे पूर्व विकास की अवधारणा पर चर्चा की जा चुकी है, किन्तु प्रश्न यह उठता है कि आदिवासी समाज के संदर्भ में भी विकास के यही मायने हैं? क्या उनके लिए विकास महज आर्थिक विकास है? इस पर चर्चा करना अनिवार्य बन जाता है। जब भी आदिवासी इलाकों में विकास की योजनाएँ लागू की जाती हैं तो प्रायः आदिवासियों को इसका विरोध करते देखा जाता है। ऊपरी तौर पर यही समझ बनती है कि आदिवासी विकास एवं प्रगति विरोधी समूह हैं और अपने आदिम राग में जीना पसंद करना चाहते हैं, किन्तु गहराई में जाकर आकलन करने पर यह ज्ञात होता है कि आदिवासी विकास विरोधी नहीं हैं, वे भी विकास के समर्थक हैं। इतिहास के पन्नों में जो घटनाएँ दर्ज हैं उससे यही ज्ञात होता है कि विकास ने आदिवासियों का केवल विनाश ही किया है। ऐसे में वे विकास का समर्थन किस तर्ज पर करें? इस उप-अध्याय में आदिवासी के संदर्भ में विकास क्या है, इसके उत्तर तलाशने की चेष्टा की गई है।

विकास को दो रूपों में देखा जा सकता है - 1) पूंजीवाद और 2) समाजवाद। पूंजीवादी विकास के अंतर्गत तकनीकी उन्नति, औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण, सफल राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि आदि को प्रश्रय दिया जाता है तथा समाजवादी विकास के अंतर्गत तकनीकी-आर्थिक नियंत्रण, उत्पादनों के साधनों का केन्द्रीकरण एवं संसाधनों पर राज्य-नियंत्रण। इससे आमजन के जीवन में उन्नति के स्थान पर विभिन्न समस्याएँ मुखरित हुईं जो क्रमशः बेरोजगारी की समस्या, पर्याप्त अन्न होने के बावजूद खाद्यान्न में कमी, स्वास्थ्य समस्या, शिक्षा आपूर्ति की समस्या, जल संकट इत्यादि हैं। भूमंडलीकरण और बाजारवाद ने विकास का जो मॉडल तैयार किया है उसका अंतिम लक्ष्य आर्थिक विकास है। देश की जनसंख्या का एक बड़ा भाग विभिन्न भौतिक सुख-सुविधाओं का उपभोग कर रहा है और उसे ही विकास के रूप में मान लिया गया है। इन भौतिक सुख-सुविधाओं ने विकास में महती भूमिका निभाई है जिसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, किन्तु केवल इसे ही विकास का पर्याय मानना विकास

की मूल अवधारणा को न समझने के समतुल्य है। गरीबी से निजात पाने के लिए, आम जन के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए आर्थिक विकास एक महत्वपूर्ण साधन है। भारत की प्राचीन परंपरा में जीवन जीने के जिन लक्ष्यों को निर्धारित किया गया है उनमें से एक आर्थिक विकास है और केवल आर्थिक विकास को विकास का पर्याय मान लेना संकीर्ण मनोवृत्ति को दर्शाता है। प्रो. अमर्त्य सेन के लिए विकास का अर्थ है - “मानव की मूलभूत योग्यताओं का विस्तार जैसे, दीर्घ जीवन जीने की योग्यता, लिखने-पढ़ने की योग्यता, बीमारियों से बचने की योग्यता, लिंग भेद की चिंता किए बगैर घर से बाहर काम करने की योग्यता तथा सहकारी एवं प्रतिकूल राजनीति में सहभागिता की योग्यता अर्थात् अपने इच्छानुकूल जीवन जी पाने की योग्यता।”³¹ उपरोक्त अवधारणा विकास की संकीर्ण मनोवृत्ति से परे है। इच्छाएँ समस्त अभिव्यक्तियों का माध्यम है जिसमें हमारी पहचान, हमारा अस्तित्व, हमारा व्यक्तित्व सम्मिलित है। अर्थात् एक व्यक्ति या समुदाय का सर्वांगीण विकास ही वास्तविक विकास है। विद्यालय में किसी विद्यार्थी को अकादमिक क्षेत्र के साथ-साथ अन्य क्रियाकलापों में उसके परफॉर्मंस के आधार पर अंक दिये जाते हैं ताकि समग्र रूप से व्यक्तित्व के विकास का सही आकलन किया जा सके। उसी प्रकार विकास के मानवीय स्वरूप को आर्थिक विकास तक सीमित नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः विकास का वास्तविक उद्देश्य समस्त मानवीय संभावनाओं का विस्तार होता है जिसमें प्रकृति की संपूर्णता प्रकट होती है। यह एक ऐसी नींव है जिस पर विकास का समावेशी दर्शन टिका हुआ है। इस संदर्भ में विकास का अर्थ है अपनी इच्छा के अनुसार जीवनयापन करना। डॉ. पद्मजा सेन का कथन द्रष्टव्य है- “विकास का अर्थ है अपनी इच्छा अनुसार जीवन जी पाना, अपनी सत्ता, अपनी पहचान की सचेतन अभिव्यक्ति, पूर्णतर उपलब्धि। मैं इसे अपना आप-आप होने की योग्यता कहती हूँ। इस तरह विकास इच्छा है, अपनी तलाश है, अपने स्व को पाने और स्थापित करने का आनंद है जिसका वास्तविक आदर्श अपना-आप होने की योग्यता का विस्तार है, चाहे वह व्यक्ति का हो या समुदाय का।”³² अपने स्व की खोज तथा अपने स्व अथवा पहचान की अभिव्यक्ति आदिवासी समाज के संदर्भ

में विकास के सही मायने है। आदिवासी किसी एक व्यक्ति के विकास का पक्षधर नहीं है, बल्कि पूरे समुदाय के विकास का पक्षधर है। आदिवासी बहुल इलाकों में विकास संबंधी योजनाओं के क्रियान्वयन की बात की जाती है जो आदिवासी जमीनों के अधिग्रहण के बिना असंभव है। फलस्वरूप करोड़ों एकड़ जमीनों का थोक के भाव में अधिग्रहण किया गया जिसका पुरजोर विरोध हुआ। विरोध विकास का नहीं, बल्कि विनाश का है। आदिवासी उन कटु अनुभवों के साक्षी रहे हैं जिसमें उन्हें विश्वास के स्थान पर अविश्वास और छल ही प्राप्त हुए। अपने कटु अनुभव से उन्होंने जाना कि विकास संबंधी वृहद योजनाओं, परियोजनाओं से उनका हित कभी नहीं हुआ, सर्वदा अहित और हानि ही हुई। बड़े-बड़े उद्योगों, बाँधों, मॉल, कॉलोनी के नाम पर विपुल मात्रा में भूमि अधिग्रहण हुआ, लोग अपने निवास स्थान से उजड़ कर विस्थापित हुए और कृषक वर्ग से मजदूर वर्ग में परिवर्तित हो गए। इसका पूर्ण लाभ शहरों में निवास करने वाले बड़े-बड़े उद्योगपतियों, व्यवसायियों, पूँजीपतियों को प्राप्त होता है। अर्थात् विकास के नाम पर तथा मुख्यधारा में सम्मिलित करने के एवज में आदिवासियों का अपना जीवन दाँव पर लग गया।

उद्योगों की स्थापना से कई शहर अस्तित्व में आएँ जैसे दिल्ली, बंगलुरु, चेन्नई, मुंबई, पटना, राँची इत्यादि जहाँ विकास की चकाचौंध रोशनी से शहर जगमगा उठा था। आवागमन के लिये बड़ी-बड़ी सड़कें, बाजार, बड़े शॉपिंग मॉल, सिनेमाघर, नये-नये मॉडल के कार, होटल एवं रेस्तरां, अस्पताल, अंग्रेजी माध्यम के स्कूल इत्यादि समस्त सुविधाओं से लैस शहरों को देखकर देश के विकास करने का भ्रम अवश्य हो सकता है, लेकिन जब झुग्गी-झोपड़ियों में रहने वाले गरीबी रेखा से निचले स्तर के लोगों पर नजर डालते हैं तो वास्तविकता कुछ और ही प्रतीत होती है। जिनके पास तन ढँकने को कपड़े नहीं, खाने के लिये दो वक्त की रोटी नसीब नहीं होती है, ऐसे लोग जहाँ रहते हैं उसे 'स्लम एरिया' कहा जाता है जो दिल्ली, मुंबई, कोलकाता कहे जाने वाले बड़े महानगरों में बहुतायत में मिलेंगे। तब प्रश्न यह उठता है कि क्या यही वास्तविक विकास है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् कई योजनाएँ निर्मित और लागू

हुई। गरीबी एवं असाक्षरता दूर करने का अभियान चलाया गया जिसके तहत बैंकों तथा कोयला खदानों का राष्ट्रीयकरण किया गया। ग्रामीण क्षेत्रों की प्रगति के लिए अपार धनराशि व्यय की गई। सरकार जब एक बड़ी धन राशि देश के विकास के लिए देती है तो बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ, नेता उस राशि को जब्त कर लेते हैं और विकास के नाम पर पुल और बांध जैसी परियोजनाओं का निर्माण करवाते हैं। इसी क्रम में निम्न कोटि की सामग्रियों के उपयोग के कारण पुल और बांध टूट जाते हैं जिसका शिकार आम जनता होती है। अपार धनराशि व्यय होने के बावजूद गाँव की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। भारत की कुल जनसंख्या का तीस प्रतिशत के लगभग ग्रामीण जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे है अर्थात् जिनकी आय 816 रुपए प्रतिमाह से भी अल्प है। इनमें से कई परिवार भूमिहीन हैं तथा दिहाड़ी पर मजदूरी करने के लिए विवश हैं जहाँ उनका कोई भविष्य नहीं, बल्कि अपने परिवार का भरण-पोषण ही मुख्य उद्देश्य है। संसाधन के रूप में उनकी अपनी जमीन नहीं रही, क्योंकि जमीन तो उनके हाथों से निकलकर बड़े किसानों और सामंतों के अधिकार में चली गई। आदिवासी भूस्वामी से भूमिहीन बने। जमीन के अंदर की मूल्यवान खनिज सम्पदा पर सरकार का अधिकार हो गया है तथा ये प्राकृतिक खनिज सम्पदा बड़े उद्योगपतियों एवं कॉर्पोरेट घरानों को अत्यल्प भाव से बेचा जा रहा है। अर्थात् धनी संसाधन वाले क्षेत्रों का दोहन कर खनिज सम्पदा को ले जाने वाली बड़ी-बड़ी कंपनियाँ कई अरबों रुपए के मालिक बन रही हैं, लेकिन उसी क्षेत्र के आदिवासी उतने ही गरीब होते जा रहे हैं। यह विडम्बना ही है।

विकास एवं प्रगति के लिए आदिवासी गाँवों में जब बड़ी-बड़ी क्रेन्स, डोजर गाड़ियाँ आती हैं तो गाँव-घर के साथ-साथ सामान्य जनता भी पीस जाती है। 'समर शेष है' उपन्यास में इस कटु यथार्थ को बड़ी मार्मिकता से उभारा गया है - "हाकिमों और गणमान्य व्यक्तियों का भी ख्याल था राष्ट्रीय विकास के मार्ग में छोटी-मोटी कुर्बानी तो देनी ही पड़ेगी। कारखाना लगेगा तो लोगों का जीवन बदलेगा, नौजवानों को रोजगार मिलेगा। क्या धरा है इस पुराने जीवन से चिपके रहने में।"³³ फलस्वरूप माराफाड़ी, बिशनपुर, राउतडीह, आसनसोल, भर्मा, हरिला,

पत्थरकट्टा आदि गाँव का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। “भर्रा के लोगों को गरगा नदी की दूसरी तरफ बसने के लिए जगह मिली। डुमरो, सिवनडीह, बाँसगोड़ाको रामगढ़ बोकारो मुख्य सड़क के दूसरी तरफ गरगा के किनारे। हरिला और अन्य कई बस्तियाँ उठकर चास पुनर्वास क्षेत्र में गईं। भूमि अधिग्रहण और पुनर्वास कार्यालय के अधिकारियों ने सब्जबाग तो बहुत दिखाया था कि पुनर्वास क्षेत्रों में सड़क, बिजली, स्कूल, स्वास्थ्य केंद्र आदि की व्यवस्था की जाएगी; लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ।”³⁴ जमीन का मुआवजा भी एक साथ नहीं दिया गया था। अर्थात् सरकारी नियम के तहत जिस वक्त जिस दर पर जमीन अधिसूचित की गई थी उसी दर पर मुआवजा दिया जाएगा। यदि सन् 56 में अधिसूचना के बाद भूमि अधिग्रहण के साथ-साथ मुआवजा भी दिया गया होता तो स्थिति भिन्न होती, किन्तु दस वर्ष बाद पूर्व दर पर मुआवजा दिया जाना विस्थापितों को स्वीकार्य नहीं था। “कई स्तरों पर इसका विरोध हुआ और अंत में सरकार ने उस नियम में संशोधन यह किया कि नोटिफिकेशन के तीन वर्ष के भीतर जमीन का अधिग्रहण प्रबंधन नहीं करती और उसका भुगतान नहीं करती तो वह जमीन फिर से डी-नोटिफायड हो जायेगी। उसके लिए फिर से नोटिफिकेशन करना होगा और बीच की अवधि का 30 प्रतिशत सूद देना होगा।”³⁵ चूँकि प्राकृतिक संसाधनों से परिपूर्ण क्षेत्र की आम जनता अशिक्षित थी, अतः उन्हें न तो कानूनी ज्ञान था और न ही वे इस स्थिति में थे कि कोर्ट में मुकदमा दायर कर सकें। इस प्रकार काफी समय बीतने के पश्चात् जो मुआवजा उन्हें दिया गया उससे उनकी आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। यद्यपि उनके घरों में टी.वी. और मोटर साइकिल की उपलब्धता ऊपरी तौर पर अच्छी स्थिति को दर्शाता है, किन्तु यह वास्तविकता नहीं थी। विनोद कुमार के ‘रेड जोन’ उपन्यास में कालीचरण मानव को लोगों की वास्तविक स्थिति से अवगत कराता है - “भ्रम में मत पड़िए। गाँव की हालत खस्ता ही है। हाँ, पैसा हाथ में आया नहीं कि टी.वी. और मोटर साइकिल घरों में आ जाता है। मुआवजा का जो पैसा मिला, उसका बड़ा हिस्सा इसी में खर्च हो गया। हालत फिर पहले जैसी हो गयी है। या उससे भी बुरी, क्योंकि नौकरी तो संयुक्त परिवार के एकाध सदस्य को ही मिला और खेतीबाड़ी

सबकी चली गयी। गाँव का आर्थिक आधार ही छिन गया।”³⁶ महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि जल, जंगल, जमीन से विस्थापन उनके अस्तित्व, उनकी पहचान के संकट को उभारता है। पिछले 2500 सालों से बेहतर समाज एक कल्पना ही है, लेकिन पिछले तीस हजार सालों से इसी दुनिया में एक दुनिया है जहाँ समता, एकता और शांति एक कल्पना नहीं अपितु उनकी आदिवासियत का आधार है। वस्तुतः उनकी सामाजिक, भाषागत, धार्मिक, सांस्कृतिक अस्मिता नष्ट होती जा रही है तथा यही कारण है कि वे विकास को विनाश का ही रूप मानते हैं और संगठित होकर इसका विरोध करते हुए दिखाई देते हैं। समुदाय का कोई एक व्यक्ति किसी समस्या का सामना नहीं करता है, बल्कि सभी मिलकर उस समस्या के प्रति संगठित रूप से खड़े रहते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आदिवासी समाज के लिए भौतिक विकास एकमात्र विकास नहीं है, बल्कि मनुष्य मात्र का विकास ही मुख्य लक्ष्य है। आदिवासी समुदाय के केंद्र में व्यक्ति का विकास न होकर पूरे समुदाय का विकास सर्वोपरि है। यद्यपि पूंजीवादी भूमंडलीकरण के प्रभाव से उनमें सामूहिकता के स्थान पर वैयक्तिकता का वर्चस्व स्थापित हो चुका है, वैयक्तिकता को प्रधानता मिली, तथापि विकास उनके जीवन के संदर्भ में आर्थिक संपन्नता के साथ-साथ अपनी अस्मिता अथवा पहचान की अभिव्यक्ति भी गहरे रूप से संपृक्त है। परिवर्तन शाश्वत नियम है, इस संसार में समयानुसार चीजें बदलती रहती हैं। फिर निश्चित पहचान कैसे तय करें? यह एक प्रश्न उभर कर आता है। इस संदर्भ में डॉ. पद्मजा सेन का कथन द्रष्टव्य है - “नदी में अबाध पानी बहकर चला जाता है फिर भी हम कहते हैं यह वही नदी है जिसमें मैंने पिछले साल स्नान किया था। दो दिनों का शिशु 20 वर्ष का युवक हो जाता है फिर भी हम कहते हैं यह वही है जो कभी शिशु था। तो वह क्या है जो परिवर्तनों के बावजूद परिवर्तित नहीं होता? तर्कतः जब हम कहते हैं कि कोई वस्तु परिवर्तित हो रही है तो वास्तव में हम यह मान लेते हैं कि कोई वस्तु या व्यक्ति या समाज है जिसमें परिवर्तन हो रहा है फिर भी यह वही है। यही व्यक्तित्व की अपरिवर्तनीय एकता या वैयक्तिकता उसकी पहचान है।”³⁷ इस चराचर जगत में हर किसी की पहचान होती है चाहे किसी एक व्यक्ति की

अथवा समाज की, आदिवासी समुदाय ने कई बदलाव के बावजूद अपनी एक भिन्न पहचान निर्मित की है। उनका समाज, संस्कृति, धर्म, भाषा ने उन्हें एक विशिष्ट पहचान प्रदान की है। इस पहचान को स्थापित करना तथा अभिव्यक्त करना उनके लिए विकास की वास्तविक अवधारणा है। इतिहास साक्षी है कि जब भी उनके पहचान को आघात पहुँचाने की चेष्टा की गई, उनका क्षोभ और असंतोष फुट पड़ा और वे लगातार संघर्ष करने को तत्पर हुए। अस्मितामूलक चेतना आदिवासियों द्वारा किए गए आन्दोलनों में देखा जा सकता है।

आज के संदर्भ में आदिवासी स्वयं की पहचान परिवर्तित धर्मों हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। आदिवासियों ने परिस्थितिवश धर्म परिवर्तन किया था, किन्तु आज वे स्वयं को सरना धर्मावलम्बी के रूप में पहचानना स्वीकार करते हैं। सरना धर्म केवल एक आदिवासी समुदाय की पहचान नहीं, बल्कि झारखंड क्षेत्र के समस्त आदिवासी समुदाय इसके अन्तर्गत आते हैं। “1932 में चाइबासा में एक विचार गोष्ठी में बिहार, बंगाल और उड़ीसा से आए आदिवासी प्रतिनिधियों ने प्राचीन आदिवासी धर्म को ‘सरना धरम’ के नाम से जानने का प्रस्ताव लिया। पं. रघुनाथ मुर्मू ने सरना धरम सेमलेट की स्थापना की जिसका उद्देश्य था सरना धरम को केंद्र कर आदिवासियों की एकात्मकता और धार्मिक विश्वास को सुदृढ़ करना। सिंहभूम के हो समुदाय ने दुपुब समाज और उरांवों ने सरना नवयुवक संघ की स्थापना की। 1978 में ऑल इंडिया सरना नवयुवक संघ की स्थापना आदिवासी धर्म और संस्कृति के संरक्षण के उद्देश्य से हुई।”³⁸ स्पष्ट है कि वर्तमान में आदिवासी अपनी स्वतंत्र पहचान स्थापित करने के लिए मुखर रूप से तत्पर हैं। भाषा किसी समुदाय के पहचान की स्वतंत्र अभिव्यक्ति है। आदिवासी समाज की भी अपनी भाषा पहचान के रूप में विद्यमान रही है जिसे हम समृद्ध मौखिक परंपरा के रूप में देख सकते हैं, किन्तु धीरे-धीरे समय परिवर्तन के साथ-साथ आदिवासियों को अपने साहित्य की लिखित परंपरा की आवश्यकता महसूस हुई। लिखित परंपरा के माध्यम से समाज और संस्कृति जीवित रहती है तथा एक व्यापक संरक्षण प्राप्त होता है। सभ्यता के विकासक्रम में उन्हें अनुभव हुआ कि अन्य समुदायों की भांति स्वतंत्र भाषा और

लिपि के विकास के साथ ही आदिवासी समुदाय और संस्कृति का विकास संभव है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय तथ्य यह है कि संताली भाषा की स्वतंत्र लिपि का आविष्कार हुआ जिसे ओलचिकी लिपि कहते हैं। इसके आविष्कार का श्रेय पं. रघुनाथ मुर्मू को जाता है जिन्होंने 1920 के दशक में इस लिपि का आविष्कार किया। उनका मानना था कि अपनी स्वतंत्र लिपि के माध्यम से संताल समाज संगठित और एक होगा। इस संदर्भ में वंदना टेटे का कथन द्रष्टव्य है - “वक्त रहते यदि हमने संघर्षरत जनता के साथ एकताबद्ध हो कर अपनी बौद्धिक भूमिका तय नहीं की तो आदिवासी अस्मिता संघर्ष का पर्याय बना झारखंड एक ऐसा नकारात्मक मुहावरा बन जाएगा, जिसे कहने से कोई भी आदिवासी हिचकेगा। क्योंकि तब न जंगल होगा, न जमीन। इसी के साथ लुप्त हो जाएंगी वे भाषाएं जिसे हजारों साल से हमारे पुरखों ने सहेज रखा था और हमारी पीढ़ी को सौंपा था इस विश्वास के साथ कि हम भी उन्हें अपनी नयी पीढ़ी को सुपुर्द करेंगे।”³⁹ श्री मुर्मू जी ने कई पुस्तकों की रचना की तथा संताली रचनाकारों को प्रोत्साहित किया। अपनी मातृभाषा में आदिवासी बच्चे शिक्षा प्राप्त कर सके, इसके लिए उन्होंने स्कूली स्तर पर संताली भाषा में कई पुस्तकों की रचना की जो आगे चलकर एक आंदोलन का रूप धारण कर लिया। कई संस्थाएं स्थापित हुईं जिसने संताली भाषा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इनमें आदिवासी वेलुयर एसोसिएशन प्रमुख है जिसकी स्थापना 1953 में हुई। आदिवासी वेलुयर एसोसिएशन ने सागेन सकम नामक पत्रिका निकाली जो ओलचिकी लिपि में प्रकाशित होती थी। इसके अतिरिक्त संताली भाषा में शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए इतुर आश्रम की स्थापना हुई। इसी प्रकार हो भाषा के विकास पर दृष्टिपात किया जा सकता है। 50 के दशक में वारंगक्षिति लिपि का आविष्कार किया गया जिसके आविष्कारक लाको बोदरा थे। हो भाषा जगत में लाको बोदरा का वही स्थान है जो संताली में रघुनाथ मुर्मू का है। “हो भाषा के विकास के लिए उन्होंने हो रीति-रिवाज एवं धर्म पर अनेक पुस्तकें लिखीं। उनकी मृत्यु के बाद चाईबासा के निकट बड़ा झींकपानी हो हयम वारंगक्षिति शिक्षक प्रशिक्षण केन्द्र आज न केवल हो भाषा के शिक्षकों को प्रशिक्षित करने में वरन् लाको बोदरा द्वारा हो भाषा के विकास के

लिए प्रस्थापित नींव को और भी सुदृढ़ करने में अहम भूमिका निभा रहा है।⁴⁰ ओलचिकी लिपि के समान वारंगक्षिति लिपि को स्कूली शिक्षा का माध्यम बनाने की घोषणा की गई, किन्तु सांविधानिक मान्यता संताली भाषा को प्राप्त हुई तथा हो भाषा अपनी एक पहचान बनाने के लिए तत्पर है। इस संदर्भ में प्रसिद्ध संस्कृति कर्मी एवं लेखक अश्विनी कुमार पंकज का कथन द्रष्टव्य है - “भाषा-संस्कृति का सवाल सीधे-सीधे सांस्कृतिक अस्मिता और आर्थिक-राजनीतिक स्वायत्तता से जुड़ा है। अगर आज समूची दुनिया के प्रथम नागरिकों का अस्तित्व खतरे में हैं, तो इसके कारण उस ऐतिहासिक अन्याय में निहित है जिसके लिए विकसित देशों (आस्ट्रेलिया आदि) को आज अपने मूल निवासियों एवं आदिवासियों से माफी मांगनी पड़ रही है। इस ऐतिहासिक अन्याय के कारण ही भारत के 699 आदिवासी समुदायों में से 52 का पूरी तरह खात्मा हो चुका है। यही नहीं वे आज भी भारतीय राजसत्ता और कॉरपोरेट घरानों में हिटलिस्ट में सबसे पहले नम्बर पर हैं। वे आधुनिक दुनिया की शुरुआत के समय से ही विकास का सबसे पसन्दीदा शिकार रहे हैं।⁴¹ उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि वर्तमान संदर्भ में वैश्विक पटल पर अपनी एक भिन्न पहचान को स्थापित करना आदिवासी समुदाय का मुख्य ध्येय है। इसी पहचान को अक्षुण्ण रखने के लिए तिलका मांझी, बिरसा मुंडा, सिदो, कान्हू आदि अनेक वीर आदिवासी लड़ाकों ने अपने प्राणों का बलिदान दिया ताकि आने वाली पीढ़ी सुरक्षित रह सके और संरक्षित रह सके उनकी अपनी संस्कृति। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि ये लड़ाके आदिवासी समाज एवं संस्कृति की अस्मिता एवं पहचान के सशक्त हस्ताक्षर बन गए हैं।

अतः कहा जा सकता है कि विकास का जो मॉडल आज हमारे सामने मौजूद है उसमें संस्कृति विशेष रूप से प्रभावित हो रही है और लुप्त होने के कगार पर है। भारत सांस्कृतिक विविधता से धनी रहा है, किन्तु देश की कई धनी और विकसित संस्कृतियाँ आधुनिक विकास के तर्ज पर बेदी पर चढ़ा दी गई। सांस्कृतिक विविधता का एकमात्र लक्ष्य है मानव समुदाय का विकास करना। मानव समाज का विकास प्रकृति का शाश्वत नियम है और प्रकृति के

प्रतिकूल जाकर विनाश को ही आमंत्रण देना है। विकास के जिन विकल्पों की बात की जा रही है, उससे आदिवासी समुदाय की मूल प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहे, यही विकास की पूर्णतर उपलब्धि है। अपने मूल स्वभाव के साथ प्रगति के पथ पर अग्रसर होना ही विकास का अंतिम लक्ष्य है। विकास की यह दृष्टि केवल आदिवासी समाज के संदर्भ में लागू नहीं होती, बल्कि सामान्य जन-समुदाय इसे व्यवहार में ला सकते हैं। विकास की उपरोक्त अवधारणा आधुनिक विकास की अवधारणा को चुनौती देता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु यह अवधारणा समग्र विकास की दृष्टि को समाहित करता है जहाँ “विकास आनंदमय हो सकता है, अभिशाप नहीं।”⁴²

iv) विकास की व्यावहारिक विसंगतियाँ

ज्यों-ज्यों देश आजादी के निकट पहुँचता गया, भारत के पूंजीपति वर्ग के हृदय में सत्ता की समाप्ति का भय एवं निजी संपत्ति पर अधिकार खत्म होने की आशंका व्याप्त होने लगी। देश में उभरते जनांदोलनों से जहाँ शोषित वर्ग को बल तथा साहस मिला वहीं जमींदार, सेठ-साहूकार एवं अन्य आंतरिक उपनिवेशवादी ताकतों को अपनी कुर्सी हिलती नजर आने लगी। असमानता के आधार पर सदियों से शोषित एवं पीड़ित सामान्य जन विशेषतः आदिवासी समाज समतावादी विचारधारा से प्रेरित समाजवाद को लाने का सपना देख रहा था। अंग्रेजों से मुक्ति के साथ-साथ उन पर हुए अनाचार और अत्याचार से मुक्ति का स्वप्न वास्तविकता में परिवर्तित होता सा नजर आ रहा था। किन्तु जल्द ही उनका मोहभंग हुआ और समस्त आशाएँ निराशाओं में परिवर्तित हो गईं। पूंजीपति वर्ग ने सत्ता छिन जाने के भय से अपने आतंक और शोषण में इजाफा किया। निजी संपत्ति तथा शक्ति में विस्तार के लिए आदिवासी समाज को निशाना बनाया गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश के कुछ बड़े उद्योगपतियों ने भारत के आर्थिक विकास के लिए 15 वर्षीय योजना “बॉम्बे प्लान” तैयार किया जिसके तहत भारी उद्योगों की स्थापना की गई। राँची में हेवी इंजीनियरिंग कॉर्पोरेशन लिमिटेड तथा धनबाद में बोकारो स्टील प्लांट अस्तित्व में आया। मुख्य तथ्य यह है कि इन उद्योगों को स्थापित करने में किसी प्रकार की पूंजी निवेश की आवश्यकता नहीं पड़ी क्योंकि उद्योगों के लिए आदिवासियों की जमीन एवं खनिज बिन मोल के मिले, मजदूर के रूप में सस्ते श्रमिक आसानी से उपलब्ध हुए। यानी हर तरह से मुनाफा अधिक था। वन के व्यावसायीकरण के तहत कई योजनाएँ लागू की गईं। आजादी के बाद भी जंगल ‘आरक्षित’ बना रहा और राज्य सरकार का हस्तक्षेप तीव्र गति से बढ़ गया और तीव्र गति से आदिवासियों का जीवन क्षत-विक्षत हुआ। वे अपने गाँव-घर से विस्थापित हुए। सदियों से निवास कर रहे आदिवासियों का एक क्षण में अपने निवास स्थान

से निर्मूल होना कोई सहज बात नहीं थी। जल, जंगल, जमीन उनके सतत जीवन का मुख्य साधन है जिसका जबरन अधिग्रहण किया गया। अब जंगलों में लाभ और व्यवसाय को ध्यान में रखकर पेड़ों की कतारें बिछ गईं। अपने देश के आदिवासी कथित अपने ही लोगों द्वारा लूटे गए, बर्बाद हुए और साथ में पर्यावरण का संतुलन भी बिगड़ गया। यदि मनुष्य प्रकृति से स्वार्थ का संबंध रखे तो पर्यावरण का प्रभावित होना स्वाभाविक है।

देश में औद्योगीकरण की स्थापना ने शहरीकरण की प्रक्रिया की नींव डाली। आदिवासी बहुल इलाके औद्योगिक विकास से अछूती नहीं रही। सभी इस तथ्य से परिचित हैं कि आदिवासी क्षेत्र संसाधनों से सघन है जो उद्योगों के कच्चे माल के लिए सर्वाधिक उपयुक्त थी। निजी औद्योगिक कंपनियों के प्रति उदार नीति अपनाते हुए सरकार ने पूंजी निवेश की अनुमति दी। परिणामस्वरूप छोटानागपुर में खदान, हाईड्रो-एलेक्ट्रिक, सिंचाई परियोजना आदि शुरू की गयी है। बांध परियोजना के अंतर्गत कई बांध प्रोजेक्ट आदिवासी क्षेत्रों में स्थापित हुए। बांध से संबंधित तर्क दिया जाता है कि उद्योग और खेती के समुचित विकास के लिए आवश्यक है बिजली और सिंचाई। कृषि की वृद्धि के लिए सिंचाई की व्यवस्था नितांत जरूरी है, किन्तु समाज में वर्ग की एक विभाजक रेखा खींची गई है जिसके तहत सुविधाओं का वितरण भी वर्गभेद के आधार पर किया गया है। बारिश समय के अनुसार होती है या फिर किसी वर्ष बारिश होती ही नहीं है। इस समस्या के समाधान के रूप में सरकार ने बांध बनाने की योजना निर्मित की। कुछ लोग उस पर अपना व्यक्तिगत अधिकार बना लेते हैं। 'समर शेष है' उपन्यास में जमींदार कालीपद बनर्जी ने एक सरकारी बांध पर व्यक्तिगत अधिकार स्थापित कर सार्वजनिक अधिकार को नष्ट कर दिया। प्रत्येक एक-दो वर्षों में उस बांध पर स्वयं की तरफ से व्यय करता था और स्वलाभ के लिए बांध का उपयोग करता था। यह बांध गाँव वालों के उपयोग के लिए वर्जित कर दिया गया और कालीपद बनर्जी उसमें मछलियाँ पालने लगा। शुरुआत में उसने आदिवासियों से जबरन परिश्रम करवाया और यह आश्वासन दिया कि इस बांध पर व्यय किए गए श्रम व्यर्थ नहीं जाएंगे, भविष्य में यह बांध गाँव वालों के उपयोग के

लिए होगा। सामंती विचारों वाले व्यक्ति को अपनी बातों से मुकरने में क्षण भर भी नहीं लगता है। कालीपद बनर्जी सामंतवाद का एक चेहरा ही था। जल के अभाव में फसल सूखकर नष्ट हो रहे थे, किन्तु बांध में पर्याप्त जल होते हुए भी गाँव वाले उसका उपयोग नहीं कर पा रहे हैं क्योंकि कालीपद बनर्जी को गाँव वालों के हित-अहित से कोई सरोकार नहीं था। औद्योगिक विकास के लिए सिंचाई के साथ-साथ बिजली भी महत्वपूर्ण आवश्यकताओं में से एक है। गाँव में सार्वजनिक रूप से उपलब्ध कराने के उद्देश्य से बिजली का गाँव में प्रवेश हुआ, किन्तु बिजली का सबसे अधिक उपभोग उद्योगों में होता है और अधिकांश गाँव बिना बिजली की सुविधा का लाभ उठाए अंधेरे में गुजर-बसर करता है। अधिकांश गाँव विद्युतहीन रह जाता है। केवल दस से बारह प्रतिशत ग्रामीण परिवार बिजली का उपभोग करता है। बाकी ग्रामीण एवं गरीब परिवार इस असमान वितरण व्यवस्था के कारण बिजली की सुविधा से वंचित रह जाता है। इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि सिंचाई और बिजली जैसे विकासशील योजनाएँ व्यर्थ हैं। इन योजनाओं की स्थापना का प्रयास प्रशंसनीय है, किन्तु इसके लिए आवश्यक है आम लोगों के बीच समान वितरण की व्यवस्था। वर्गभेद की नींव पर सर्वहित की बात करना बेबुनियाद है। इस संदर्भ में 'समर शेष है' उपन्यास में अजीत बाबू का कथन द्रष्टव्य है - "यह जो आजादी मिली है वह अधूरी है। जब तक हम आर्थिक रूप से गुलाम रहेंगे, तब तक हमारा जीवन नहीं बदलेगा। हमारे दुःख-तकलीफों का अन्त नहीं होगा।"⁴³

बांध निर्माण की तीव्र प्रक्रिया से आदिवासियों के विस्थापन में भी तेजी आई। बड़ी संख्या में आदिवासी अपने सघन वनाच्छादित प्रदेशों से निकलकर पुनर्वास के लिए इधर-उधर भटकने लगे। उन्हें पुनर्वास के लिए उचित मुआवजा नहीं दिया गया, कुछ परिवारों को मुआवजा तक नहीं दिया गया। स्वतन्त्रता पूर्व और पश्चात् भारत के एक बड़े हिस्से में निवास करने वाले आदिवासियों की स्थिति में किसी प्रकार से कोई परिवर्तन नहीं आया। उनकी स्थिति जैसे पहले थी वैसे बाद में भी बरकरार रही। ऐसा नहीं है कि विकास नहीं हुआ, विकास के नाम पर लाखों लोगों की बलि चढ़ाई गयी। आदिवासियों की उन्नति के लिए जो नियम बनाए गए थे,

उसके कारण वे न केवल वाह्य रूप से टूटे, बल्कि आंतरिक रूप से खोखले हो गए थे। विस्थापन ने उन्हें जड़ से उखाड़ दिया। यही विस्थापन उनके विकास के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा साबित हुई। इससे न केवल उनकी सामूहिकता टूटी, बल्कि उनकी पहचान नष्ट हो गयी। सरकार ने न केवल उनकी जमीन पर अधिकार प्राप्त किया, बल्कि उनके कृषि उत्पादन पर रोक लगा दी और उन्हें बेघर कर दिया। इसी कारण कुछ लोग विस्थापित बस्ती में बस गए तो कुछ लोगों को नौकरी की खोज में शहर जाना पड़ा। वस्तुतः स्वतन्त्रता पश्चात् अर्थ के स्तर पर ऊर्जा, खनिज पदार्थ, उद्योग, सिंचाई और उन्नति के क्षेत्र में मूलभूत परिवर्तन तो हुए, किन्तु आदिवासियों का बहुत नुकसान हुआ। इनका अपनी जमीन से गहरा रिश्ता-नाता रहा है, पुनः जमीन पर बसने के बावजूद उन्हें सारे हक नहीं दिये गए। प्रसिद्ध लेखिका रमणिका गुप्ता के शब्दों में - "हर देश में विकास नीति का लक्ष्य प्रायः यही होता है कि इसके तहत सबको विकास का समान अधिकार मिले लेकिन हमारे देश में आज आजादी के बाद के छठे दशक में भी हमारा अनुभव यही जाहिर करता है कि इस नीति से कुछ लोगों का विकास असंख्य लोगों की कीमत पर हुआ, खासकर आदिवासियों की कीमत पर। विकास नीति के निर्धारित लक्ष्य के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में बन रही परियोजनाओं के माध्यम से पूरे समाज को प्रगति की राह पर लाना था लेकिन हुआ ठीक इसके विपरीत। अमीर-गरीब, साधन-सम्पन्न और साधन-विहीन के मध्य की खाई पटने के बजाए और भी गहरी होती गई है। राष्ट्रहित के नाम पर बेशुमार लोगों की जमीनें अधिग्रहित कर उन्हें न केवल विस्थापित किया गया बल्कि उनके संदर्भ में संविधान में प्रदत्त मूलभूत अधिकारों का भी उल्लंघन किया गया।"⁴⁴ सरकार ने कई संशोधन और बिल पास किए जैसे कि भूमि-अधिग्रहण संशोधन विधेयक, पुनर्वास बिल, फॉरेस्ट बिल और बायो डायवर्सिटी बिल इत्यादि लागू किया गया जिससे ब्रिटिश सरकार बहुराष्ट्रीय कंपनियों को उनकी इच्छानुसार जमीन दिला सके ताकि पूरे गाँव को खाली किया जा सके और अधिक से अधिक लोगों को विस्थापन की जिंदगी गुजारनी पड़े। आदिवासियों की जमीन पर प्रतिबंध के लिए छोटानागपुर टेनेंसी एक्ट लागू किया गया। इस एक्ट के अनुसार आदिवासियों की

जमीन को कोई खरीद नहीं सकता है, लेकिन आदिवासियों की जमीन का अवैध रूप से हस्तांतरण किया गया। जब रिपोर्ट प्रस्तुत करने की बात आती है तो उस रिपोर्ट में वृहद बांध निर्माण योजना के नकारात्मक पहलुओं को अनदेखा कर दिया जाता है। इस प्रकार उनकी समस्या केवल उन तक ही सीमित रह जाती है। उनकी समस्या मात्र अर्थ से संबंधित नहीं है, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक प्रश्न भी अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। उनका समाज, उनकी संस्कृति जल, जंगल, जमीन से गहरे रूप से संपृक्त है, उनकी जड़ें इसमें समाहित हैं।

जंगल में कई तरह के अनमोल और मूल्यवान वृक्ष पाये जाते हैं जो दुर्लभप्राय हैं। ऐसे वृक्ष बांध निर्माण योजना के तहत नष्ट हो रहे हैं। बांध के पीछे की तरफ नदियों के तलछट जमा होने से जमीन उन पोषक तत्वों से वंचित रह जाती है जो उन्हें उर्वर बनाने में सहायक होती है। 'समर शेष है' उपन्यास में गाँव के एक तालाब में गाद भर जाने के कारण उसकी स्वच्छता के लिए दस हजार रुपये आवंटित किए गए, किन्तु कुछ भ्रष्ट व्यक्तियों के कारण वह रुपये उक्त कार्य पर व्यय न होकर आपस में बाँट लिये गए। प्रसिद्ध लेखक हेरॉल्ड एस तोपनो ने मिस्र में नील नदी पर बने आसवन बांध का उदाहरण देते हुए कहा - "मिस्र में नील नदी पर बहुचर्चित आसवन बांध बनाया गया। इससे पहले यह नदी एक वर्ष में दस लाख हेक्टेयर भूमि पर दस करोड़ टन गाद जमा करती थी। यह अनुमान एक विशेषज्ञ जॉन वाटरबरी ने लगाया था। गिल्वर्ट वाईट के अनुसार नील नदी के गाद की 'खाद कीमत' को 13000 टन कैल्शियम नाइट्रेट रासायनिक खाद के बराबर आंका गया था। अब नील नदी में महत्वपूर्ण उर्वरक तत्व की कमी महसूस की जा रही है।"⁴⁵ धीरे-धीरे जमीन से जल का स्तर घटता जा रहा है। जमीन से जल का स्तर लगभग तीन मीटर की गहराई तक पहुँचने की आशंका व्यक्त की गई है। इससे दलदल का निर्माण तेजी से बनने की प्रक्रिया सामने आई है जिसे एक महत्वपूर्ण समस्या के रूप में देखा गया है। गाद जमा होने और दलदल के निर्माण से एक ऐसा वातावरण निर्मित हुआ है जिसने नवीन रोगों का सृजन किया है। इन रोगों को फैलाने में कई हानिकारक कीटाणुओं ने मदद की है जो पूरी की पूरी फसल को समाप्त करने में सक्षम

होते हैं। जल प्रदूषण की समस्या इस हद तक बढ़ी है कि मछलियों की विभिन्न प्रजातियाँ विलुप्त हो रही हैं। मछलियों की प्रजनन क्षमता न्यूनतम होती जा रही है क्योंकि प्रजनन के लिये नदियों में जो अनुकूल वातावरण प्राप्त होता है, वह बांध निर्माण की वजह से तेजी से घट रहा है। अतः जल के मुख्य जीव-जंतुओं में से एक मछलियों की अनोखी प्रजातियाँ प्रभावित हो रही हैं। कई बार बांध टूटने की घटनाएँ सामने आती हैं जिससे बड़े पैमाने पर क्षति हुई है। इसके पीछे के कारणों की जाँच करने पर यह तथ्य सामने आया है कि दोयम दर्जे के माल, कार्य-कुशलता का अभाव एवं अनुभवहीनता बांध के टूटने में अहम भूमिका निभाई है। कुल मिलाकर बांध परियोजना से गाँव के गाँव जलमग्न हुए, ग्रामीणों को अपने निवास स्थान से उजड़ने का दंश झेलना पड़ा, स्त्रियाँ वैश्यावृत्ति करने को विवश हुईं। तथाकथित विकास ने लाखों आदिवासियों के प्राण हर लिये। इनके पवित्र सासनदिरी जो भूत और वर्तमान के मध्य सेतु का कार्य करती हैं, पर प्रहार हुआ और यह मात्र क्षेत्रीय एवं पर्यावरणीय घटना नहीं, बल्कि उनकी संस्कृति पर कुठाराघात है। मनुष्य की बेहिसाब आगे बढ़ने और ऊँचा उड़ने की प्रवृत्ति ने आदिवासियों का सबसे अधिक नाश किया है। रणेन्द्र कृत 'गायब होता देश' में मनुष्य की अतिरिक्त लालसा ने मुंडा प्रदेश को गायब होता देश में परिवर्तित कर दिया - "इन्हीं जरूरतों से ज्यादा समझदार इन्सानों की अंधाधुंध उड़ान के उठे गुबार-बवंडर में सोना लेकन दिसुम गायब होता जा रहा था। सरना-वनस्पति जगत गायब हुआ, मरांग-बुरु बोंगा, पहाड़ देवता गायब हुए, गीत गाने वाली, धीमे बहने वाली, सोने की चमक बिखरनेवाली, हीरों से भरी सारी नदियां जिनमें इकिर बोंगा-जल देवता का वास था, गायब हो गईं। मुंडाओं के बेटे-बेटियां भी गायब होने शुरू हो गए। सोना लेकन दिसुम गायब होने वाले देश में तब्दील हो गया।"⁴⁶ उदाहरण के तौर पर नर्मदा बांध और सरदार सरोवर बांध परियोजना को लिया जा सकता है। सरदार सरोवर बांध को अब तक का सबसे विवादास्पद बांध परियोजना माना जाता है। इसके बनने के पूर्व चेतावनी दी गई थी कि इससे खेती योग्य जमीन का दलदल में तब्दील होने, भूकंप आने सहित लाखों लोग प्रभावित होंगे। "केंद्रीय सरकार के पर्यावरण मंत्रालय ने 8 वर्षों तक इन बांधों के

निर्माण के लिये स्वीकृति नहीं दी थी। पर्यावरण मंत्रालय की अस्वीकृति के बावजूद भूतपूर्व प्रधानमंत्री ने 1987 में इन बांधों के बनने की अनुमति दे दी। सूत्र बताते हैं कि प्रधानमंत्री द्वारा उठाया गया यह कदम विश्व बैंक के दबाव में आकर और टुच्चे राजनीतिक स्वार्थ की पूर्ति के लिये था। दबावों में आकर पर्यावरण मंत्रालय व योजना आयोग ने अंततः इसकी मंजूरी दे दी।⁴⁷ इस प्रकार करोड़ों रुपये की लागत से कई ऐसे बड़े बांध निर्मित किये गए जिसका दुष्परिणाम आदिवासियों को विशेष रूप से भुगतना पड़ा।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् आदिवासी जनसंख्या में निरंतर आ रही गिरावट ने एक चिंताजनक स्थिति उत्पन्न कर दी है। पिछले अस्सी वर्षों में आदिवासियों की जनसंख्या उत्तरोत्तर घटती जा रही है। उद्योगों की स्थापना के लिए आदिवासी समुदायों की जमीनों का अधिग्रहण किया गया। विकास की विभिन्न परियोजनाओं में से टाटा स्टील प्लांट परियोजना महत्वपूर्ण है जिसकी स्थापना जमशेदपुर में हुई थी। टाटा परियोजना की स्थापना से आदिवासियों को भारी विसंगतियों का सामना करना पड़ा जिससे जनसंख्या पर विशेष प्रभाव पड़ा। 1907 में जमशेदपुर में आदिवासियों की जनसंख्या 95% थी जो 2007 में घटकर 5% तक रह गई। टाटा कंपनी की स्थापना के पूर्व हो, संताल, भूमिज जैसे आदिवासी समुदायों की कुल 43,925 जनसंख्या निवास करती थी जहाँ गैर आदिवासी निवासियों की संख्या कम थी, किन्तु अब परिदृश्य बिल्कुल विपरीत है। इसके पीछे का मुख्य कारण है बाहरी लोगों का बड़ी मात्रा में प्रवेश। कई नये शहर अस्तित्व में आए “नोवामुंडी इसमें एक ज्वलंत उदाहरण है जो यह समझने के लिए काफी है कि औद्योगीकरण की वजह से कैसे आदिवासियों का एक गाँव शहर में तब्दील हो गया और उस शहर से आदिवासी गायब होने के कगार पर हैं। लौह-अयस्क के उत्खनन से पूर्व नोवामुंडी एक छोटा सा गाँव था, इसने 1941 में एक शहर का रूप ले लिया, जिसकी जनसंख्या 6,389 हो गयी। 1951 में इसकी जनसंख्या बढ़कर 7,227 हो गयी। टाटा कंपनी द्वारा लौह-अयस्क के उत्खनन की वजह से ही नोवामुंडी गाँव से शहर में बदल गया। अब यह शहर गैर-आदिवासियों से भर चुका है।⁴⁸ ज्यों-ज्यों कंपनी का विस्तार होता गया,

बाहरी जनसंख्या में वृद्धि तीव्र गति से हुई। नोवामुंडी तथा सारंडा जंगल लौह अयस्क से धनी क्षेत्र माना जाता है। अतः यहाँ खनन हेतु बड़ी मात्रा में भीड़ उमड़ी। इसी प्रकार राँची शहर की जनसंख्या में यकायक वृद्धि हुई। 1869 में राँची नगर निगम की स्थापना हुई और 1872 में इसे शहर का रूप दिया गया। राँची एवं लोहरदगा में बाहरी लोगों का वृहद मात्रा में प्रवेश हुआ जिनमें बंगाली तथा बिहारी जाति के लोगों की संख्या अत्यधिक थी। बाहरी लोगों के प्रवेश से जनसंख्या में भारी इजाफा हुआ जहाँ 83% हिन्दू, 110% ईसाई तथा 34% मुसलमानों की जनसंख्या में बढ़ोतरी हुई और आदिवासियों की जनसंख्या तीव्रता से घटी जहाँ 33% तक की कमी देखी जा सकती है। “1950 के दशक में औद्योगीकरण के कारण राँची शहर एक बूमिंग सिटी बन गयी। शहर के अगल-बगल के गांवों में नये आबादी के दबाव में अपने आदिवासियों को खो दिया, जो भूमि वैध रूप से अंतरणीय थी उसकी रजिस्ट्री होने से इतने पैसे नहीं मिले, जिससे कि वे अपने लिए नये बसाहट बना सकें। धीरे-धीरे लाचार और भोले-भाले आदिवासी लोगों के घर मिट्टी के झोपड़ीनुमा घर में बदल गये।”⁴⁹ कहने को शहरों में पकी इमारतें हैं, किन्तु ऐसी अनगिनत झुग्गी-झोपड़ियों का अस्तित्व आज भी बरकरार है। बाहरी समाज के आगमन से एक दुष्प्रभाव यह भी पड़ा कि आदिवासियों की भूमि के अवैध हस्तांतरण की प्रक्रिया तीव्र हुई। बेमोल भाव में उनकी भूमि का विक्रय हुआ। अब इस क्षेत्र में बाहरी समाज का पूर्ण दबदबा था। भूमि अधिग्रहण के कारण आदिवासियों की जीविका के साधन नष्ट हुए तथा वे परिवार की उदरपूर्ति के लिए दिहाड़ी मजदूर अथवा बड़े-बड़े घरों में नौकर का कार्य अपनाने को विवश हुए।

एक समय था जब कभी आदिवासियों ने कंटीले जंगलों को साफकर खेती एवं रहने योग्य भूमि बनाई और वे निस्संदेह इस भूमि के स्वामी थे, किन्तु विस्थापन की त्रासदी ने इन्हें भू-स्वामी से भूमिहीन बना दिया। असंख्य आदिवासी परिवारों की कई एकड़ जमीन अधिगृहीत की गई और मुआवजे के रूप में उचित मूल्य नहीं दिया गया। उनकी अधिगृहीत जमीन पर ही बोकारो स्टील कंपनी, एच.ई.सी., टाटा कंपनी जैसे बड़े औद्योगिक कंपनियों की

स्थापना हुई। इन बड़ी-बड़ी कंपनियों में आदिवासियों के लिए नौकरी का कोई स्थान नहीं और जिन्हें मिलती थी तो चपरासी की नौकरी के अतिरिक्त और कोई नौकरी उपलब्ध नहीं थी। स्त्रियाँ कंपनी में मजदूरी करती थी। व्यावहारिक रूप से देखें तो आदिवासी अपनी ही जमीन पर मजदूरी कर रहे हैं। उद्योगों की स्थापना से उनका विकास तो नहीं हुआ, बल्कि उनके शांतिपूर्ण जीवन में सुनामी की लहर आई जिसने सब कुछ समाप्त कर दिया। विकास ने केवल उन्हें चापाकल और आँगनवाड़ी केंद्र प्रदान किया। सरकारी विद्यालयों में शिक्षा के स्थान पर बच्चों को मध्याह्न भोजन दिया जाता है और शिक्षक अनियमित रूप से विद्यालय जाते हैं। परिणामस्वरूप भावी पीढ़ी भी अपने पूर्वजों के नक्शे कदम पर चलकर मजदूर, कुली अथवा रिक्शाचालक बनती है। भूमि अधिग्रहण के वक्त बड़ी-बड़ी दलीलें दी गई थी और आदिवासियों को आश्वस्त किया गया था कि कंपनी के विभिन्न पदों पर उनकी बहाली होगी। लेकिन समय बीतने के साथ ही समस्त आश्वासन निरर्थक साबित हुए। सरकारी अफसर आदिवासियों की भर्त्सना करते हैं जिस पर प्रसिद्ध आदिवासी लेखक एवं चिंतक हेरॉल्ड एस तोपनो का कथन द्रष्टव्य है - “उन्होंने यह नहीं सोचा कि उजड़ने के पहले इन आदिवासियों को सरकारी नौकरी की जरा भी जरूरत नहीं थी। जिस शासन व्यवस्था ने हजारों आदिवासियों को उनके वन्यस्थल से उन्मूलित कर सड़कों पर फेंक दिया हो, उसी शासन के अधिकारी, जो शहर की सभी सुविधाओं को भोगते हैं, उनके आलस्य और शराबखोरी की भर्त्सना करे, इससे बड़ी हास्यास्पद और क्रूर विडंबना क्या हो सकती है।”⁵⁰ आदिवासियों के भूमि अधिग्रहण की लंबी कथा रही है विशेषतः झारखंड के आदिवासियों की। यद्यपि लंबे संघर्ष के पश्चात् अंग्रेजी शासनकाल के दौरान आदिवासियों की जमीन की सुरक्षा के लिए छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम, संताल परगना काश्तकारी अधिनियम बनाए गए जिसके अनुसार आदिवासियों की जमीन कोई खरीद-बेच नहीं सकता है। लेकिन न अंग्रेजों ने इन कानूनों का ईमानदारी से पालन किया और न ही स्वतन्त्रता के पश्चात् सरकार ने इसका पालन किया। फलस्वरूप कई एकड़ जमीनें आदिवासियों से छिनती गई। ‘रेड जोन’ उपन्यास में लेखक विनोद कुमार ने इसका खुलासा किया कि विकास

के एवज में राज्य सरकार ने बड़ी-बड़ी कंपनियों से कई एमओयू साइन किए - “देखते-देखते सौ से अधिक एमओयू पर हस्ताक्षर हो गये। जिंदलों, मित्तलों, टाटाओं, भूषणों जैसी कंपनियों की राज्य में कतार लग गयी। सभी को अपना कारखाना लगाने के लिए जमीन चाहिए। वह भी सौ दो सौ एकड़ नहीं, किसी को हजार एकड़ किसी को पाँच हजार एकड़। साथ ही उन्हें लौह अयस्क और कोयला खदानों का पट्टा। इसके लिए वे जन प्रतिनिधियों की जेब भरने के लिए तैयार रहते और सत्ता लठैत बन कर अपनी ही जनता पर लाठी भाँजने और गोली चलाने के लिए तैयार रहती।”⁵¹ इस प्रकार जमीन का अवैध हस्तांतरण किया गया। जमीन की लूट के इस प्रपंच में बड़े-बड़े अफसर, मंत्री, भू-माफिया शामिल रहे हैं जिन्होंने समस्त कानूनों को ताक पर रख कर जमीन का क्रय-विक्रय किया। वस्तुतः जल, जंगल, जमीन से उनका अस्तित्व अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है जो समाप्त होने के कगार पर है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि विकास के नाम पर आदिवासियों के अधिकारों का केवल दोहन ही हुआ। विकास की नीतियों में कहीं भी आदिवासी समुदाय शामिल नहीं था। उन निर्धारित नीतियों का मूल्य आदिवासियों को चुकाना पड़ा। उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था टूटी तथा पारंपरिक संसाधनों पर उनके अधिकारों को अवैध ठहराया गया। वे अपने ही घर में परदेसी हो गये। उनकी पारंपरिक कृषि व्यवस्था नष्ट हुई और जमीनों का अबाध दोहन हुआ। खदान, बांध, उद्योग आदि की स्थापना बड़े पैमाने पर की गई, लेकिन विकास की प्रक्रिया में आदिवासियों का हित गौण साबित हुआ। वे अपने क्षेत्रों से उजड़े, विस्थापित हुए और गरीबी की मार ने उन्हें पंगु बना दिया। वर्तमान में भी वे प्रकृति और अपने समुदाय की रक्षा के लिए आंदोलनरत हैं और उनका यह संघर्ष जारी है। नेतरहाट फील्ड फायरिंग रेंज इसका ज्वलंत उदाहरण पेश करता है जहाँ सभी आदिवासी एकजुट होकर इसे रद्द करने का संघर्ष चला रहे हैं जिसमें उन्हें सफलता भी मिली है।

संदर्भ:

- ¹ कुमार, डॉ. सुरेश, डॉ. रमानाथ सहाई (संपा.), ऑक्सफोर्ड अंग्रेजी-अंग्रेजी-हिन्दी शब्दकोश, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, संस्करण: जुलाई 2013, पृष्ठ: 325
- ² कुमार, विनोद, विकास की अवधारणा, अनुजा बुक्स, दिल्ली, संस्करण: 2016, पृष्ठ: 12
- ³ चौहान, कुमार, रेनू चौहान (संपा.), आदिवासी स्वर-4 सामाजिक-आर्थिक जीवन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, आवृत्ति: 2017, पृष्ठ: 13
- ⁴ कुमार, विनोद, विकास की अवधारणा, अनुजा बुक्स, दिल्ली, संस्करण: 2016, पृष्ठ: 15
- ⁵ वही, पृष्ठ: 71
- ⁶ वही, पृष्ठ: 73
- ⁷ कुमार, विनोद, रेड जोन, अनुजा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2015, पृष्ठ: 60
- ⁸ तलवार, डॉ. वीर भारत, झारखंड के आदिवासियों के बीच एक एकटीविस्ट के नोट्स, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण: 2012, पृष्ठ: 44-45
- ⁹ गुप्ता, रमणिका, आदिवासी: विकास से विस्थापन, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, छठा संस्करण: 2021, पृष्ठ: 134
- ¹⁰ मिंज, सुनील, ग्लैडसन डुंगडुंग, विकास के कब्रगाह, देशज प्रकाशन, रांची, संस्करण: 2013, पृष्ठ: 19
- ¹¹ वही, पृष्ठ: 21
- ¹² तोपनो, हेरॉल्ड एस, उपनिवेशवाद और आदिवासी संघर्ष, विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2016, पृष्ठ: 100-101
- ¹³ कुमार, विनोद, समर शेष है, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण: 2005, पृष्ठ: 142
- ¹⁴ मिंज, सुनील, ग्लैडसन डुंगडुंग, विकास के कब्रगाह, देशज प्रकाशन, झारखंड, प्रथम संस्करण: 2013, पृष्ठ: 41
- ¹⁵ वही, पृष्ठ: 50
- ¹⁶ वही, पृष्ठ: 67
- ¹⁷ वही, पृष्ठ: 76

-
- ¹⁸ वही, पृष्ठ: 99
- ¹⁹ वही, पृष्ठ: 101
- ²⁰ कुमार, विनोद, रेड जोन, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2015, पृष्ठ: 46-47
- ²¹ गुप्ता, रमणिका, आदिवासी विकास से विस्थापन, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, छठा संस्करण: 2021, पृष्ठ: 74
- ²² <https://adivasiresurgence.com/2022/05/10/netarhat-movement-jharkhand-adivasi/>
- ²³ तलवार, डॉ. वीर भारत, झारखंड के आदिवासियों के बीच एक एकटीविस्ट के नोट्स, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण: 2012, पृष्ठ: 123-124
- ²⁴ वही, पृष्ठ: 125
- ²⁵ <https://hindi.mongabay.com/2022/05/03/tribals-protesting-to-save-trees-in-hasdeo-aranya/>
- ²⁶ तोपनो, हेरॉल्ड एस, उपनिवेशवाद और आदिवासी संघर्ष, विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2016, पृष्ठ: 70
- ²⁷ वही, पृष्ठ: 71
- ²⁸ <https://downtoearth.org.in/coverage/koelkaro-jharkhand-13200>
- ²⁹ <https://hindi.caravanmagazine.in/environment/jharkhand-mandal-dam-adivasi-protest-hindi>
- ³⁰ <https://hindi.caravanmagazine.in/environment/jharkhand-mandal-dam-adivasi-protest-hindi>
- ³¹ चौहान, कुमार, श्रीमती रेनू चौहान (संपा.), आदिवासी स्वर-4 सामाजिक-आर्थिक जीवन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, आवृत्ति: 2017, पृष्ठ: 71
- ³² वही, पृष्ठ: 72
- ³³ कुमार, विनोद, समर शेष है, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण: 2005, पृष्ठ: 18
- ³⁴ वही, पृष्ठ: 181-182
- ³⁵ वही, पृष्ठ: 182
- ³⁶ कुमार, विनोद, रेड जोन, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2015, पृष्ठ: 61
- ³⁷ चौहान, कुमार, श्रीमती रेनू चौहान (संपा.), आदिवासी स्वर-4 सामाजिक-आर्थिक जीवन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, आवृत्ति: 2017, पृष्ठ: 74
- ³⁸ वही, पृष्ठ: 75

-
- ³⁹ टेटे, वंदना, आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची, प्रथम संस्करण: 2013, पृष्ठ: 61
- ⁴⁰ चौहान, कुमार, श्रीमती रेनू चौहान (संपा.), आदिवासी स्वर-4 सामाजिक-आर्थिक जीवन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, आवृत्ति: 2017, पृष्ठ: 79
- ⁴¹ लुगुन, अनुज (संपा.), आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण: 2018, पृष्ठ: 114
- ⁴² चौहान, कुमार, श्रीमती रेनू चौहान (संपा.), आदिवासी स्वर-4 सामाजिक-आर्थिक जीवन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, आवृत्ति: 2017, पृष्ठ: 80
- ⁴³ कुमार, विनोद, समर शेष है, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण: 2005, पृष्ठ: 114
- ⁴⁴ गुप्ता, रमणिका (संपा.), आदिवासी विकास से विस्थापन, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, छठा संस्करण: 2021, पृष्ठ: 7
- ⁴⁵ तोपनो, हेरॉल्ड एस, उपनिवेशवाद और आदिवासी संघर्ष, विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2016, पृष्ठ: 74
- ⁴⁶ रणेन्द्र, गायब होता देश, पेंगुइन रैंडम हाउस इंडिया प्रा. लि., हरियाणा, प्रथम संस्करण: 2014, पृष्ठ: 3
- ⁴⁷ तोपनो, हेरॉल्ड एस, उपनिवेशवाद और आदिवासी संघर्ष, विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2016, पृष्ठ: 76
- ⁴⁸ मिंज, सुनील, ग्लैडसन डुंगडुंग, विकास के कब्रगाह, देशज प्रकाशन, झारखंड, प्रथम संस्करण: 2013, पृष्ठ: 59
- ⁴⁹ वही, पृष्ठ: 90
- ⁵⁰ तोपनो, हेरॉल्ड एस, उपनिवेशवाद और आदिवासी संघर्ष, विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2016, पृष्ठ: 69
- ⁵¹ कुमार, विनोद, रेड जोन, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2015, पृष्ठ: 381